कबीरसाहब

की

सुबोध साखियां

वियोगी हरि

स्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।



कबीर की

सुबोध साखियां

नित्य पठन
और
मनन के लिए

वियोगी हरि



१९८०

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक

: यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

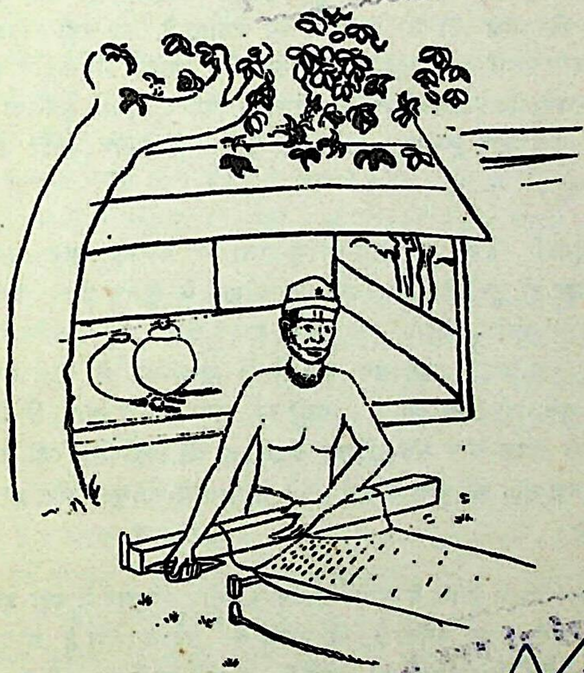
•

तृतीय संस्करण १९८०

[illegible]
संशोधित मूल्य.....2/50

मुद्रक

अग्रवाल प्रिंटर्स, देहली ।



कबीरसाहब

प्रकाशकीय

हमारे देश के भक्त-कवियों में कबीरसाहब का स्थान बहुत ऊंचा है। सादगी का जीवन बिताते हुए उन्होंने अध्यात्म की ऐसी धारा बहाई कि आज भी जो उसमें डुबकी लगाता है, वह बड़ी शीतलता अनुभव करता है। जीवन के कठिन-से-कठिन रहस्यों को उन्होंने बहुत ही सरल-सुबोध शब्दों में खोल कर रख दिया। उनकी साखियों को आज भी पढ़ते हैं तो ऐसा लगता है, मानो कबीर हमारे बीच मौजूद हैं।

हमारी इस स्वाध्याय-पुस्तक-माला में अबतक चार पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं : 'गोस्वामी तुलसीदास के सुबोध दोहे', 'कबीर-साहब की सुबोध साखियां', 'रहीम के सुबोध दोहे', और 'गिरिधर की सुबोध कुण्डलियां'। इन सब पुस्तकों में मूल पद्यों के साथ उनका सरल अर्थ भी दिया गया है। पद्यों का चुनाव और टीका हिन्दी के विख्यात लेखक और संत-साहित्य के मर्मज्ञ श्री वियोगी हरिजी ने की है। गद्य-गीत की शैली में अर्थ होने से पुस्तकों का मूल्य और भी बढ़ गया है।

हम चाहते हैं कि ये पुस्तकें प्रत्येक भारतीय परिवार में पढ़ी जायं। इनके पढ़ने से पता चलता है कि जीवन का उद्देश्य क्या है और हम उसकी पूर्त्ति किस प्रकार कर सकते हैं। पुस्तकें सबके काम की हैं।

सामान्य स्थिति के पाठक भी इनका लाभ ले सकें, इसलिए इनका मूल्य कम-से-कम रक्खा है।

—मन्त्री

दो शब्द

साखियाँ यों तो सभी संतों की निराली हैं। एक-एक शब्द उनका अन्तर पर चोट करता है। पर कबीरसाहब की साखियों का तो और भी निराला रंग है। वे हमारे हृदय पर बड़ी गहरी छाप छोड़ जाती हैं। सीधे-सादे अनपढ़ आदमी पर तो और भी अधिक ये साखियाँ अपना अमिट प्रभाव शायद इसलिए डाल जाती हैं कि उन्हींकी तरह एक अनपढ़ संत ने सहज-सहज जीवन को पहचाना था और उसके साथ एकाकार हो गया था। दूसरों के मुख से सुनी उसने कोई बात नहीं कही, अपनी आंखों-देखा ही कहा। जो कुछ भी कहा, अनूठा कहा, किसीका जूठा नहीं।

कबीर की वाणी गहरी और ऊँचे घाट की है। सत्य को उसने अपने आमने-सामने देखा और दूसरों को भी दिखाने का बड़े प्रेम से जतन किया। सत्य की राह में जो भी आड़े आया, उसे उसने बख्शा नहीं। बाहरी कर्मकाण्ड, जात-पांत और छूतछात को उसने झकझोर डाला। मिथ्याचार उसमें कहीं भी जगह नहीं पा सका।

साखियाँ यानी दोहों में तो जैसे कबीर ने गागर में सागर भर दिया है। लगता है कि जैसे बूंद में सिन्धु लहरा रहा है।

इस संकलन में पचीस अंगों अर्थात् विषयों के अनुसार कबीरसाहब की सरल सुबोध साखियों को लिया गया है। बुद्धि का गर्व रखनेवालों के लिए कबीर की बानी, उनकी साखियाँ, भले ही दुर्बोध हों, मगर सुबोध हैं वे उन-जैसों के लिए, जो दुर्बोध जीवन नहीं जीना चाहते। उनके लिए तो कबीर की साखी मानो अन्धे की लकड़ी है।

यथामति साखियों के साथ उनका अर्थ भी कर दिया है।

—वियोगी हरि

अनुक्रम

कबीरसाहब

की

सुबोध साखियां

●

१ :: गुरुदेव का अंग

राम-नाम कै पटंतरै, देबे कौं कछु नाँहि ।
क्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन माँहि ॥१॥

सद्गुरु ने मुझे राम का नाम पकड़ा दिया है।
मेरे पास ऐसा क्या है उस सममोल का, जो गुरु को दूं ?
क्या लेकर सन्तोष करूं उनका ?
मन की अभिलाषा मन में ही रह गयी कि,
क्या दक्षिणा चढ़ाऊँ ? वैसी वस्तु कहाँ से लाऊँ ?

सतगुरु लई कमांण करि, बाहण लागा तीर ।
एक जु बाह्या प्रीति सूं, भीतरि रह्या शरीर ॥२॥

सद्गुरु ने कमान हाथ में लेली, और शब्द के तीर वे लगे चलाने ।
एक तीर तो बड़ी प्रीति से ऐसा चला दिया लक्ष्य बनाकर कि,
मेरे भीतर ही वह बिंध गया, बाहर निकलने का नहीं अब ।

सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार ।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत-दिखावणहार ॥३॥

अन्त नहीं सद्गुरु की महिमा का,
और अन्त नहीं उनके किये उपकारों का,

मेरे अनन्त लोचन खोल दिये,
जिनसे निरन्तर मैं अनन्त को देख रहा हूं ।
[अर्जुन को भगवान् ने ऐसीही तो दिव्य दृष्टि दी थी कि जिसे पाकर उसने विश्वरूप विराट् की अनन्तता देखी थी ।]

बलिहारी गुर आपणें, द्यौंहाड़ी कै बार ।
जिनि मानिष तैं देवता, करत न लागी बार ।।४।।

हर दिन कितनी बार न्यौछावर करूँ अपने आपको सद्गुरु पर,
जिन्होंने एक पल में ही मुझे मनुष्य से परमदेवता बना दिया,
और तदाकार हो गया मैं ।

गुर गोबिंद दोऊ खड़े, किसके लागूं पांय ।
बलिहारी गुरु आपणे, जिन गोविन्द दिया दिखाय ।।५।।

गुरु और गोविन्द दोनों ही सामने खड़े हैं,
दुविधा में पड़ गया हूं कि किसके पैर पकड़ूं !
सद्गुरु पर न्यौछावर होता हूं कि,
जिसने गोविन्द को सामने खड़ाकर दिया, गोविन्द से मिला दिया ।

ना गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव ।
दुन्यूं बूड़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव ।।६।।

लालच का दाँव दोनों पर चल गया,
न तो सच्चा गुरु मिला और न शिष्य ही जिज्ञासु बन पाया ।

पत्थर की नाव पर चढ़कर दोनों ही मझधार में डूब गये।

पीछैं लागा जाइ था, लोक़ बेद के साथि।
आगैं थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥७॥

मैं भी औरों की ही तरह भटक रहा था, लोक—वेद की गलियों में।
मार्ग में गुरु मिल गये सामने आते हुए और ज्ञान का दीपक पकड़ा दिया मेरे हाथ में।
इस उजेले में भटकना अब कैसा ?

'कबीर' सतगुर ना मिल्या, रही अधूरी सीष।
स्वांग जती का पहरि करि, घरि-घरि मांगै भीष ॥८॥

कबीर कहते हैं—
उनकी सीख अधूरी ही रह गयी कि जिन्हें सद्गुरु नहीं मिला।
संन्यासी का स्वांग रचकर, भेष बनाकर घर-घर भीख ही मांगते फिरते हैं वे।

सतगुर हम सूं रीझि करि, एक कह्या परसंग।
बरस्या बादल प्रेम का, भींजि गया सब अंग ॥९॥

एक दिन सद्गुरु हम पर ऐसे रीझे कि एक प्रसंग कह डाला, रस से भरा हुआ।
और, प्रेम का बादल बरस उठा, अंग-अंग भीग गया उस वर्षा में।

यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान ।
सीस दिये जो गुर मिलै, तो भी सस्ता जान ॥१०॥

यह शरीर तो बिष की लता है, बिषफल ही फलेंगे इसमें । और, गुरु तो अमृत की खान है ।
सिर चढ़ा देने पर भी सद्गुरु से भेंट हो जाय, तो भी सौदा यह सस्ता ही है ।

२ : : सुमिरण का अंग

भगति भजन हरि नांव है, दूजा दुक्ख अपार ।
मनसा बाचा क्रमनां, 'कबीर' सुमिरण सार ॥१॥

हरि का नाम-स्मरण ही भक्ति है और वही भजन सच्चा है; भक्ति के नाम पर सारी साधनाएं केवल दिखावा हैं, और अपार दुःख की हेतु भी ।
पर स्मरण वह होना चाहिए मन से, बचन से और कर्म से, और यही नाम-स्मरण का सार है ।

'कबीर' कहता जात हूँ, सुणता है सब कोइ ।
राम करें भल होइगा, नहितर भला न होइ ॥२॥

मैं हमेशा कहता हूँ, रट लगाये रहता हूँ,
सब लोग सुनते भी रहते हैं—
यही कि राम का स्मरण करने से ही भला होगा, नहीं तो कभी भला होनेवाला नहीं ।
पर राम का स्मरण ऐसा कि वह रोम-रोम में रम जाय ।

तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूँ ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं ॥३॥

'तू, ही है, तू ही है' यह करते-करते मैं तू ही हो गयी,

'हूँ' मुझमें कहीं भी नहीं रह गयी ।
उसपर न्यौछावर होते-होते मैं समर्पित हो गयी हूँ ।
जिधर भी नजर जाती है उधर तू-ही-तू दीख रहा है ।

[यह प्रेमोन्मत्त जीवात्मा के उद्‌गार हैं कि प्रेमी और प्रियतम में अन्तर नहीं रह गया । द्वैत समा गया अद्वैत में । दृश्य का लय हो गया दृष्टा में । ज्ञाता और ज्ञेय एकरूप हो गये। कहाँ गया दर्शन ? कहाँ चला गया ज्ञान ?]

'कबीर' सूता क्या करै, काहे न देखै जागि ।
जाको संग तैं बीछुड़्या, ताही के संग लागि ॥४॥

कबीर अपने आपको चेता रहे हैं, अच्छा हो कि दूसरे भी चेत जायं । अरे, सोया हुआ तू क्या कर रहा है ? जाग जा और अपने साथियों को देख, जो जाग गये हैं ।
यात्रा लम्बी है, जिनका साथ बिछड़ गया है और तू पिछड़ गया है, उनके साथ तू फिर लग जा ।

जिहि घटि प्रीति न प्रेम-रस, फुनि रसना नहीं राम ।
ते नर इस संसार में, उपजि खये बेकाम ॥५॥

जिस घट में, जिसके अन्तर में न तो प्रीति है और न प्रेम का रस ।
और जिसकी रसना पर रामनाम भी नहीं—इस दुनिया में बेकार ही पैदा हुआ वह और बरबाद हो गया ।

'कबीर' प्रेम न चषिया, चषि न लीया साव ।
सूने घर का पाहुंणां, ज्यूं आया त्यूं जाव ॥६॥

कबीर धिक्कारते हुए कहते हैं—
जिसने प्रेम का रस नहीं चखा, और चखकर उसका स्वाद नहीं लिया,
उसे क्या कहा जाय ?
वह तो सूने घर का मेहमान है, जैसे आया था वैसे ही चला गया !

राम पियारा छांड़ि करि, करै आन का जाप ।
वेस्यां केरा पूत ज्यूं, कहै कौन सूं बाप ॥७॥

प्रियतम राम को छोड़कर जो दूसरे देवी-देवताओं को जपता है, उनकी आराधना करता है, उसे क्या कहा जाय ?
वेश्या का पुत्र किसे अपना बाप कहे ?
अनन्यता के बिना कोई गति नहीं ।

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम-नाम है लूटि ।
पीछैं हो पछिताहुगे, यहु तन जैहै छूटि ॥८॥

अगर लूट सको तो लूट लो, जी भर लूटो—
यह रामनाम की लूट है ।
न लूटोगे तो बुरी तरह पछताओगे, क्योंकि तब यह तन छूट जायगा ।

लंबा मारग, दूरि घर, विकट पंथ, बहु मार ।
कहौ संतो, क्यूं पाइये, दुर्लभ हरि-दीदार ॥९॥

रास्ता लम्बा है, और वह घर दूर है, जहां कि पहुँचना है ।
लम्बा ही नहीं, ऊबड़-खाबड़ भी है ।
कितने ही बटमार वहाँ पीछे लग जाते हैं ।
संत भाइयो, बताओ तो कि हरि का वह दुर्लभ दीदार तब कैसे मिल सकता है ?

'कबीर' राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ ।
फूटा नग ज्यूं जोड़ि मन, संधे संधि मिलाइ ॥१०॥

कबीर कहते हैं—अमृत-जैसे गुणों को गाकर तू अपने राम को रिझा ले ।
राम से तेरा मन बिछड़ गया है, उससे वैसे ही मिल जा,
जैसे कोई फूटा हुआ नग सन्धि-से-सन्धि मिलाकर एक कर लिया जाता है ।

३ : : विरह का अंग

अंदेसड़ा न भाजिसी, संदेसौ कहियां ।
कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि ही पास गयां ।।१।।

संदेसा भेजते-भेजते मेरा अंदेशा जाने का नहीं, अन्तर की कसक दूर होने की नहीं,
यह कि प्रियतम मिलेगा या नहीं, और कब मिलेगा;
हाँ, अंदेशा यह दूर हो सकता है दो तरह से—
या तो हरि स्वयं आजायं, या मैं किसी तरह हरि के पास पहुँच जाऊँ ।

यहु तन जालों मसि करों, लिखों राम का नाउं ।
लेखणि करूं करंक की, लिखि-लिखि राम पठाउं ।।२।।

इस तन को जलाकर स्याही बना लूँगी,
और जो कंकाल रह जायगा, उसकी लेखनी तैयार कर लूँगी ।
उससे प्रेम की पाती लिख-लिखकर अपने प्यारे राम को भेजती रहूँगी ।
ऐसे होंगे वे मेरे संदेसे ।

बिरह-भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ ।
राम-बियोगी ना जिवै, जिवै तो बौरा होइ ।।३।।

बिरह का यह भुजंग अंतर में बस रहा है, डसता ही रहता

है सदा, कोई भी मंत्र काम नहीं देता।
राम का वियोगी जीवित नहीं रहता, और जीवित रह भी जाय तो वह बावला हो जाता है।

सब रग तंत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुणि सकै, कै साईं के चित्त ॥४॥

शरीर यह रबाव (सरोद) बन गया है—
एक-एक नस तांत हो गयी है।
और, बजानेवाला कौन है इसका ?
वही बिरह,
इसे या तो वह साईं सुनता है, या फिर बिरह में डूबा हुआ यह चित्त।

अंषड़ियां झाईं पड़ीं, पंथ निहारि-निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि-पुकारि ॥५॥

बाट जोहते-जोहते आंखों में झाईं पड़ गई हैं,
राम को पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ गये हैं।
[पुकार यह आर्त न होकर विरह के कारण तप्त हो गयी है, और इसीलिए जीभ पर छाले पड़ गये हैं।]

इस तन का दीवा करौ, बाती मेल्यूं जीव।
लोही सींचों तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव ॥६॥

इस तन का दीया बना लूं, जिसमें प्राणों की बत्ती हो !

और, तेल की जगह तिल-तिल बलता रहे रक्त का एक-एक कण।

कितना अच्छा हो कि उस दीये में प्रियतम का मुखड़ा कभी दिखायी दे जाय।

'कबीर' हंसणां दूरि करि, करि रोवण सौं चित्त।
बिन रोयां क्यूं पाइए, प्रेम पियारा मित्त ॥७॥

कबीर कहते हैं—

छोड़ो यह हँसना; रोने में ही अपना चित्त लगाओ,
वह प्यारा मित्र बिन रोये कैसे किसीको मिल सकता है ?

[रोने-रोने में अन्तर है। दुनिया को किसी चीज़ के लिए रोना, जो नहीं मिलती या मिलने पर खो जाती है, और राम के विरह का रोना, जो सुखदायक होता है।]

जौ रोऊं तौ बल घटै, हँसौं तो राम रिसाइ।
मन ही माँहि बिसूरणा, ज्यूं घुंण काठंहि खाइ ॥८॥

अगर रोता हूँ तो बल घट जाता है, विरह तब कैसे सहन होगा ?
और हँसता हूं तो मेरे राम रिसा जायंगे।
तो न रोते बनता है और न हँसते।
मन-ही-मन बिसूरना ही अच्छा,
जिससे सबकुछ खोखला हो जाय, जैसे काठ घुन लग जाने से।

हांसी खेलौं हरि मिलै, कोण सहै षरसान।
काम क्रोध त्रिष्णां तजै, तोहि मिलै भगवान ॥९॥

हँसी-खेल में ही हरि से यदि मिलन हो जांय, तो कौन व्यथा की शान पर चढ़ना चाहेगा ?
भगवान् तो तभी मिलते हैं, जबकि काम, क्रोध और तृष्णा को त्याग दिया जाय।

पूत पियारौ पिता कौं, गौंहनि लागो धाइ।
लोभ-मिठाई हाथि दे, आपण गयो भुलाइ ॥१०॥

पिता का प्यारा पुत्र दौड़कर उसके पीछे लग गया।
हाथ में लोभ की मिठाई देदी पिता ने।
उस मिठाई में ही रम गया उसका मन।
अपने-आपको वह भूल गया, पिता का साथ छूट गया।

परबति परबति मैं फिर्‌या, नैन गँवाये रोइ।
सो बूटी पाऊं नहीं, जातैं जीवनि होइ ॥११॥

एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ पर मैं घूमता रहा, भटकता फिरा, रो-रोकर आँखें भी गवां दीं।
वह संजीवन बूटी कहीं नहीं मिल रही, जिससे कि जीवन यह जीवन बन जाय,
व्यर्थता बदल जाय सार्थकता में।

सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै ॥१२॥

सारा ही संसार सुखी दीख रहा है, अपने आपमें मस्त है वह,
खूब खाता है और खूब सोता है।
दुखिया तो यह कबीरदास है,
जो आठों पहर जागता है और रोता ही रहता है।
[धन्य है ऐसा जागना, और ऐसा रोना ! किस काम का,
इसके आगे खूब खाना और खूब सोना !]

जा कारणि में ढूँढ़ती, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सकौं पाइ ॥१३॥

जीवात्मा कहती है—
जिस कारण मैं उसे इतने दिनों से ढूँढ़ रही थी,
वह सहज ही मिल गया, सामने ही तो था।
पर उसके पैरों को कैसे पकड़ूँ ?
मैं तो मैली हूँ, और मेरा प्रियतम कितना उजला है !
सो, संकोच हो रहा है।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि ॥१४॥

जबतक यह मानता था कि "मैं हूं",
तबतक मेरे सामने हरि नहीं थे।
और अब हरि आ प्रगटे, तो मैं नहीं रहा।
अँधेरा और उजेला एकसाथ, एक ही समय, कैसे रह सकते हैं ?
फिर वह दीपक तो अन्तर में ही था।

देवल माहैं देहुरी, तिल जे है बिसतार।
माहैं पाती माहिं जल, माहैं पूजणहार ॥१५॥

मन्दिर के अन्दर ही देहरी है एक, विस्तार में तिल के
मानिन्द।
वहीं पर पत्ते और फूल चढ़ाने को रखे हैं,
और पूजनेवाला भी तो वहीं पर है।
[अन्तरात्मा में ही मंदिर है, वहीं पर देवता है, वहीं पूजा
की सामग्री है और पुजारी भी वहीं मौजूद है।]

४ : : जर्णा का अंग

भारी कहौं तो बहु डरौं, हलका कहूं तौ झूठ ।
मैं का जाणौं राम कूं, नैनूं कबहूं न दीठ ॥१॥

अपने राम को मैं यदि भारी कहता हूँ, तो डर लगता है,
इसलिए कि कितना भारी है वह ।
और, उसे हलका कहता हूँ तो यह झूठ होगा ।
मैं क्या जानूं उसे कि वह कैसा है,
इन आँखों से तो उसे कभी देखा नहीं ।
सचमुच वह अनिर्वचनीय है, वाणी की पहुँच नहीं उस तक ।

दीठा है तो कस कहूँ, कह्या न को पतियाइ ।
हरि जैसा है तैसा रहो, तू हरषि-हरषि गुण गाइ ॥२॥

उसे यदि देखा भी है, तो वर्णन कैसे करूँ उसका ?
वर्णन करता हूँ तो कौन विश्वास करेगा ?
हरि जैसा है, वैसा है ।
तू तो आनन्द में मग्न होकर उसके गुण गाता रह,
वर्णन के ऊहापोह में मन को न पड़ने दे ।

पहुँचेंगे तब कहैंगे, उमड़ैंगे उस ठांइ ।
अजहूं बेरा समंद मैं, बोलि बिगूचैं कांइ ॥३॥

जब उस ठौर पर पहुँच जायंगे, तब देखेंगे कि क्या कहना है,
अभी तो इतना ही कि वहाँ आनन्द-ही-आनन्द् उमड़ेगा,
और उसमें यह मन खूब खेलेगा।
जबकि बेड़ा बीच समुद्र में है, तब व्यर्थं बोल-बोलकर
क्यों किसीको दुविधा में डाला जाय कि—
उस पार हम पहुँच गये हैं!

५ : : पतिव्रता का अंग

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझकौं सौंपता, क्या लागै है मोर ॥१॥

मेरे साईं, मुझमें मेरा तो कुछ भी नहीं,
जो कुछ भी है, वह सब तेरा ही है।
तब, तेरी ही वस्तु तुझे सौंपते मेरा क्या लगता है, क्या आपत्ति हो सकती है मुझे ?

'कबीर' रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ।
नैनूं रमैया रमि रह्या, दूजा कहाँ समाइ ॥२॥

कबीर कहते हैं—
आँखों में काजल कैसे लगाया जाय,
जबकि उनमें सिन्दूर की जैसी रेख उभर आयी है ?
मेरा रमैया नैनों में रम गया है, उनमें अब किसी और को बसा लेने की ठौर नहीं रही।
[सिन्दूर की रेख से आशय है विरह-वेदना से रोते-रोते आँखें लाल हो गयी हैं।]

'कबीर' एक न जाण्यां, तो बहु जांण्यां क्या होइ।
एक तैं सब होत है, सब तैं एक न होइ ॥३॥

कबीर कहते हैं—
यदि उस एक को न जाना, तो इन बहुतों को जानने से क्या हुआ !
क्योंकि एक का ही तो यह सारा पसारा है,
अनेक से एक थोड़े ही बना है ।

जबलग भगति सकामता, तबलग निर्फल सेव ।
कहै 'कबीर' वै क्यूं मिलैं, निहकामी निज देव ।।४।।

भक्ति जबतक सकाम है, भगवान् की सारी सेवा तबतक निष्फल ही है ।
निष्कामी देव से सकामी साधक की भेंट कैसे हो सकती है ?

'कबीर' कलिजुग आइ करि, कीये बहुत जो मीत ।
जिन दिलबाँध्या एक सूं, ते सुखु सोवै निचींत ।।५।।

कबीर कहते हैं—
कलियुग में आकर हमने बहुतों को मित्र बना लिया, क्योंकि (नकली) मित्रों की कोई कमी नहीं ।
पर जिन्होंने अपने दिल को एक से ही बाँध लिया,
वे ही निश्चिन्त सुख की नींद सो सकते हैं ।

'कबीर' कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं ।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउं ।।६।।

कबीर कहते हैं—
मैं तो राम का कुत्ता हूँ, और नाम मेरा मुतिया (मोती) है,

गले में राम की जंजीर पड़ी हुई है; उधर ही चला जाता हूँ जिधर वह ले जाता है।
[प्रेम के ऐसे बंधन में मौज-ही-मौज है।]

पतिबरता मैली भली, काली, कुचिल, कुरूप।
पतिबरता के रूप पर, बारौं कोटि स्वरूप ॥७॥

पतिव्रता मैली ही अच्छी, काली मैली-फटी साड़ी पहने हुए और कुरूप।
तो भी उसके रूप पर मैं करोड़ों सुन्दरियों को न्यौछावर कर देता हूँ।

पतिबरता मैली भली, गले कांच को पोत।
सब सखियन में यों दिपै, ज्यों रवि ससि की जोत ॥८॥

पतिव्रता मैली ही अच्छी, जिसने सुहाग के नाम पर काँच के कुछ गुरिये पहन रखे हैं।
फिरभी अपनी सखी-सहेलियों के बीच वह ऐसी दिप रही है, जैसे आकाश में सूर्य और चन्द्र की ज्योति जगमगा रही हो।

६ : : कामी का अंग

परनारी राता फिरैं, चोरी बिढ़िता खाहिं।
दिवस चारि सरसा रहै, अंति समूला जाहिं ॥१॥

परनारी से जो प्रीति जोड़ते हैं और चोरी की कमाई खाते हैं,
भले ही वे चार दिन फूले-फूले फिरें।
किन्तु अन्त में वे जड़मूल से नष्ट हो जाते हैं।

परनारी का राचणौं, जिसी लहसण की खानि।
खूणैं बैसि र खाइए, परगट होइ दिवानि ॥२॥

परनारी का साथ लहसुन खाने के जैसा है,
भले ही कोई किसी कोने में छिपकर खाये, वह अपनी बास से प्रकट हो जाता है।

भगति बिगाड़ी कामियां, इन्द्री केरै स्वादि।
हीरा खोया हाथ थैं, जनम गँवाया बादि ॥३॥

भक्ति को कामी लोगों ने बिगाड़ डाला है, इन्द्रियों के स्वाद में पड़कर,
और हाथ से हीरा गिरा दिया, गँवा दिया।
जन्म लेना बेकार ही रहा उनका।

कामी अमी न भावई, विष ही कौं ले सोधि।
कुबुद्धि न जाई जीव की, भावै स्यंभ रहौ प्रमोधि ॥४॥

कामी मनुष्य को अमृत पसंद नहीं आता,
वह तो जगह-जगह विष को ही खोजता रहता है।
कामी जीव की कुबुद्धि जाती नहीं, चाहे स्वयं शम्भु भगवान् ही उपदेश दे-देकर उसे समझावें।

कामी लज्या ना करै, मन माहें अहिलाद।
नींद न मांगै सांथरा, भूख न मांगै स्वाद ॥५॥

कामी मनुष्य को लज्जा नहीं आती कुमार्ग पर पैर रखते हुए,
मन में बड़ा आह्लाद होता है उसे।
नींद लगने पर यह नहीं देखा जाता कि बिस्तरा कैसा है,
और भूखा मनुष्य स्वाद नहीं जानता, चाहे जो खा लेता है।

ग्यानी मूल गँवाइया, आपण भये करता।
ताथैं संसारी भला, मन में रहै डरता ॥६॥

ज्ञानी ने अहंकार में पड़कर अपना मूल भी गवाँ दिया,
वह मानने लगा कि मैं ही सबका कर्त्ता-धर्त्ता हूँ।
उससे तो संसारी आदमी ही अच्छा, क्योंकि वह डरकर तो चलता है कि कहीं कोई भूल न हो जाय।

७ : : चांणक का अंग

इहि उदर कै कारणे, जग जाच्यों निस जाम ।
स्वामीं-पणौ जो सिरि चढ्यो, सर्‌यो न एको काम ॥१॥

इस पेट के लिए दिन-रात साधु का भेष बनाकर वह माँगता फिरा,
और स्वामीपना उसके सिर पर चढ़ गया ।
पर पूरा एक भी काम न हुआ—न तो साधु हुआ और न स्वामी ही ।

स्वामी हूवा सीतका, पैकाकार पचास ।
राम-नाम कांठै रह्या, करै सिषां की आस ॥२॥

स्वामी आज-कल मुफ्त में, या पैसे के पचास मिल जाते हैं,
मतलब यह कि सिद्धियाँ और चमत्कार दिखाने और फैलाने-वाले स्वामी ।
रामनाम को वे एक किनारे रख देते हैं, और शिष्यों से आशा करते हैं लोभ में डूबकर ।

कलि का स्वामी लोभिया, पीतलि घरी खटाइ ।
राज-दुबारां यौं फिरै, ज्यूं हरिहाई गाइ ॥३॥

कलियुग के स्वामी बड़े लोभी हो गये हैं, और उनमें विकार आ गया है,

जैसे पीतल की बटलोई में खटाई रख देने से ।
राज-द्वारों पर ये लोग मान-सम्मान पाने के लिए घूमते रहते हैं, जैसे खेतों में बिगड़ैल गायें घुस जाती हैं ।

कलि का स्वामी लोभिया, मनसा धरी बधाइ ।
दैंहि पईसा ब्याज कौं, लेखां करतां जाइ ॥४॥

कलियुग का यह स्वामी कैसा लालची हो गया है !
लोभ बढ़ता ही जाता है इसका ।
ब्याज पर यह पैसा उधार देता है और लेखा-जोखा करने में सारा समय नष्ट कर देता है ।

'कबीर' कलि खोटी भई, मुनियर मिलै न कोइ ।
लालच लोभी मसकरा, तिनकूं आदर होइ ॥५॥

कबीर कहते हैं—
बहुत बुरा हुआ इस कलियुग में,
कहीं भी आज सच्चे मुनि नहीं मिलते ।
आदर हो रहा है आज लालचियों का, लोभियों का और मसखरों का ।

ब्राह्मण गुरू जगत का, साधू का गुरू नांहि ।
उरझि-पुरझि करि मरि रह्या, चारिउँ बेदां मांहि ॥६॥

ब्राह्मण भले ही सारे संसार का गुरु हो,
पर वह साधु का गुरु नहीं हो सकता ।

वह क्या गुरु होगा, जो चारों वेदों में उलझ-पुलझकर ही मर रहा है।

चतुराई सूवै पढ़ी, सोई पंजर माँहि।
फिरि प्रमोधै आन कौं, आपण समझै नाँहि ॥७॥

चतुराई तो रटते-रटते तोते को भी आ गई, फिर भी वह पिंजड़े में कैद है।
औरों को उपदेश देता है, पर खुद कुछ भी नहीं समझ पाता।

तीरथ करि करि जग मुवा, डूँघै पाणीं न्हाइ।
रामहि राम जपंतडां, काल घसीट्यां जाइ ॥८॥

कितने ही ज्ञानाभिमानी तीर्थों में जा-जाकर और डुबकियाँ लगा-लगाकर मर गये।
जीभ से रामनाम का कोरा जप करनेवालों को काल घसीट-कर ले गया।

'कबीर' इस संसार कौं, समझाऊँ कै बार।
पूँछ जो पकड़ै भेड़ की, उतर्या चाहै पार ॥९॥

कबीर कहते हैं—
कितनी बार समझाऊँ मैं इस बावली दुनिया को !
भेड़ की पूँछ पकड़कर पार उतरना चाहते हैं ये लोग !

[अंध-रूढ़ियों में पड़कर धर्म का रहस्य समझना चाहते हैं ये लोग !]

'कबीर' मन फूल्या फिरैं, करता हूँ मैं ध्रंम ।
कोटि क्रम सिरि ले चल्या, चेत न देखै भ्रम ॥१०॥

कबीर कहते हैं—

फूला नहीं समा रहा है वह कि 'मैं धर्म करता हूँ, धर्म पर चलता हूँ।'
चेत नहीं रहा कि अपने इस भ्रम को देख ले कि धर्म कहाँ है, जबकि करोड़ों कर्मों का बोझ ढोये चला जा रहा है !

८ : : रस का अंग

'कबीर' भाठी कलाल की, बहुतक बैठे आइ ।
सिर सौंपे सोई पिवै, नहीं तौ पिया न जाइ ॥१॥

कबीर कहते हैं—

कलाल की भट्ठी पर बहुत सारे आकर बैठ गये हैं,
पर इस मदिरा को एक वही पी सकेगा, जो अपना सिर कलाल को खुशी-खुशी सौंप देगा,
नहीं तो पीना हो नहीं सकेगा ।

[कलाल है सद्गुरु, मदिरा है प्रभु का प्रेम-रस और सिर है अहंकार ।]

'कबीर' हरि-रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि ।
पाका कलस कुंभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि ॥२॥

कबीर कहते हैं—

हरि का प्रेम-रस ऐसा छककर पी लिया कि कोई और रस पीना बाकी नहीं रहा ।
कुम्हार का बनाया जो घड़ा पक गया, वह दोबारा उसके चाक पर नहीं चढ़ता ।

[मतलब यह कि सिद्ध हो जाने पर साधक पार कर जाता है जन्म और मरण के चक्र को ।]

हरि-रस पीया जाणिये, जे कबहुं न जाइ खुमार ।
मैंमंता घूमत रहै, नाहीं तन की सार ॥३॥

हरि का प्रेम-रस पी लिया, इसकी यही पहचान है कि वह नशा अब उतरने का नहीं, चढ़ा सो चढ़ा ।
अपनापन खोकर मस्ती में ऐसे घूमना कि शरीर का भी मान न रहे ।

सबै रसाइण मैं किया, हरि सा और न कोइ ।
तिल इक घट मैं संचरै, तौ सब तन कंचन होइ ॥४॥

सभी रसायनों का सेवन कर लिया मैंने,
मगर हरि-रस-जैसी कोई और रसायन नहीं पायी ।
एक तिल भी घट में, शरीर में, यह पहुँच जाय, तो वह सारा ही कंचन में बदल जाता है ।
[मैल जल जाता है वासनाओं का, और जीवन अत्यन्त निर्मल हो जाता है ।]

९ : : माया का अंग

'कबीर' माया पापणी, फंध ले बैठी हाटि।
सब जग तौ फंधै पड़्या, गया कबीरा काटि ॥१॥

यह पापिन माया फन्दा लेकर फँसाने को बाज़ार में आ बैठी है।
बहुत सारों पर फन्दा डाल दिया है इसने।
पर कबीर उसे काटकर साफ़ बाहर निकल आया।
[हरि-भक्त पर फन्दा डालनेवाली माया खुद ही फँस जाती है, और वह सहज ही उसे काटकर निकल आता है।]

'कबीर' माया मोहनी, जैसी मीठी खांड़।
सतगुरु की कृपा भई, नहीं तौ करती भांड़ ॥२॥

कबीर कहते हैं—
यह मोहिनी माया शक्कर-सी स्वाद में मीठी लगती है,
मुझ पर भी यह मोहिनी डाल देती, पर न डाल सकी।
सद्गुरु की कृपा ने बचा लिया, नहीं तो यह मुझे भांड़ बनाकर छोड़ती।
जहाँ-तहाँ चाहे जिसकी चाटुकारी मैं करता फिरता।

माया मुई न मन मुवा, मरि-मरि गया सरीर।
आसा त्रिष्णां ना मुई, यों कहि गया 'कबीर' ॥३॥

कबीर कहते हैं—

न तो यह माया मरी और न मन ही मरा,
शरीर ही बार-बार गिरते चले गये।
मैं हाथ उठाकर कहता हूँ।
न तो आशा का अंत हुआ और न तृष्णा का ही।

'कबीर' सो धन संचिये, जो आगैं कूं होइ।
सीस चढ़ायें पोटली, ले जात न देख्या कोइ ॥४॥

कबीर कहते हैं,—

उसी धन का संचय करो न, जो आगे काम दे।
तुम्हारे इस धन में क्या रखा है ?
गठरी सिर पर रखकर किसीको भी आजतक ले जाते नहीं देखा।

त्रिसणा सींचीं ना बुझै, दिन दिन बधती जाइ।
जवासा के रूष ज्यूं, घण मेहां कुमिलाइ ॥५॥

कैसी आग है यह तृष्णा की !
ज्यों-ज्यों इसपर पानी डालो, बढ़ती ही जाती है।
जवासे का पौधा भारी वर्षा होने पर भी कुम्हला तो जाता है,
पर मरता नहीं, फिर हरा हो जाता है।

'कबीर' जग की को कहै, भौजलि बूड़ै दास।
पारब्रह्म पति छाँड़ि करि, करैं मानि की आस ॥६॥

कबीर कहते हैं—

दुनिया के लोगों की बात कौन कहे, भगवान् के भक्त भी भवसागर में डूब जाते हैं।

इसीलिए परब्रह्म स्वामी को छोड़कर वे दूसरों से मान-सम्मान पाने की आशा करते हैं।

माया तजी तौ क्या भया, मानि तजी नहीं जाइ।
मानि बड़े मुनियर गिले, मानि सबनि को खाइ ॥७॥

क्या हुआ जो माया को छोड़ दिया, मान-प्रतिष्ठा तो छोड़ी नहीं जा रही।

बड़े-बड़े मुनियों को भी यह मान-सम्मान सहज ही निगल गया।

यह सबको चबा जाता है, कोई इससे बचा नहीं।

'कबीर' इस संसार का, झूठा माया मोह।
जिहि घरि जिता बधावणा, तिहिं घरि तिता अंदोह ॥८॥

कबीर कहते हैं—

झूठा है संसार का सारा माया और मोह।

सनातन नियम है यह कि—

जिस घर में जितनी ही बधाइयाँ बजती हैं, उतनी ही विपदाएँ वहाँ आती हैं।

बुगली नीर बिटालिया, सायर चढ़्या कलंक।
और पखेरू पी गये, हंस न बोवै चंच ॥९॥

बगुली ने चोंच डुबोकर सागर का पानी जूठा कर डाला !
सागर सारा ही कलंकित हो गया उससे ।
और दूसरे पक्षी तो उसे पी-पीकर उड़ गये,
पर हंस ही ऐसा था, जिसने अपनी चोंच उसमें नहीं डुबोई ।

'कबीर' माया जिनि मिले, सौ बरियाँ दे बाँह ।
नारद से मुनियर मिले, किसो भरौसौ त्याँह ॥१०॥

कबीर कहते हैं—

अरे भाई, यह माया तुम्हारे गले में बाहें डालकर भी सौ-सौ बार बुलाये,
तो भी इससे मिलना-जुलना अच्छा नहीं ।
जबकि नारद-सरीखे मुनिवरों को यह समूचा ही निगल गई, तब इसका विश्वास क्या ?

१० : : कथनी-करणी का अंग

जैसी मुख तैं नीकसै, तैसी चालै चाल ।
पारब्रह्म नेड़ा रहै, पल में करै निहाल ।।१।।

मुँह से जैसी बात निकले, उसीपर यदि आचरण किया जाय, वैसीही चाल चली जाय,
तो भगवान् तो अपने पास ही खड़ा है, और वह उसी क्षण निहाल कर देगा ।

पद गाए मन हरषियां, साषी कह्यां अनंद ।
सो तत नांव न जाणियां, गल में पड़िया फंद ।।२।।

मन हर्ष में डूब जाता है पद गाते हुए, और साखियाँ कहने में भी आनन्द आता है ।
लेकिन सार-तत्त्व को नहीं समझा, और हरि-नाम का मर्म न समझा, तो गले में फन्दा ही पड़नेवाला है ।

मैं जाण्यूं पढ़िबौ भलौ, पढ़िबा थैं भलौ जोग ।
राम-नाम सूं प्रीति करि, भल भल नींदौ लोग ।।३।।

पहले मैं समझता था कि पोथियों का पढ़ना बड़ा अच्छा है,
फिर सोचा कि पढ़ने से योग-साधन कहीं अच्छा है ।
पर अब तो इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि राम-नाम से ही सच्ची प्रीति की जाय,

भले ही अच्छे-अच्छे लोग मेरी निन्दा करें।

'कबीर' पढ़िबो दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ।
बावन आषिर सोधि करि, 'ररै' 'ममै' चित्तलाइ ॥४॥

कबीर कहते हैं—
पढ़ना-लिखना दूर कर, किताबों को पानी में बहा दे।
बावन अक्षरों में से तू तो सार के ये दो अक्षर ढूँढ़कर ले ले —'रकार' और मकार'।
और इन्हींमें अपनें चित्त को लगा दे।

पोथी पढ़ पढ़ जग मुवा, पंडित भया न कोय।
एकै आषिर पीव का, पढ़ै सो पंडित होइ ॥५॥

पोथियाँ पढ़-पढ़कर दुनिया मर गई, मगर कोई पण्डित नहीं हुआ।
पण्डित तो वही हो सकता है, जिसने प्रियतम प्रभु का केवल एक अक्षर पढ़ लिया।
[पाठान्तर है 'ढाई आखर प्रेम का' अर्थात् प्रेम शब्द के जिसने ढाई अक्षर पढ़ लिये, अपने जीवन में उतार लिये, उसीको पण्डित कहना चाहिए।]

करता दीसै कीरतन, ऊंचा करि करि तुंड।
जानें-बूझै कुछ नहीं, यौंहीं आंधां रूंड ॥६॥

हमने देखा है ऐसों को, जो मुख को ऊंचा करके ज़ोर-ज़ोर

से कीर्तन करते हैं।

जानते-समझते तो वे कुछ भी नहीं कि क्या तो सार है और क्या असार।

उन्हें अन्धा कहा जाय, या कि बिना सिर का केवल रुण्ड ?

११ : : सांच का अंग

लेखा देणां सोहरा, जे दिल सांचा होइ।
उस चंगे दीवान में, पला न पकड़ै कोइ ॥१॥

दिल तेरा अगर सच्चा है, तो लेना-देना सारा आसान हो जायगा।
उलझन तो झूठे हिसाब-किताब में आ पड़ती हैं,
जब साईं के दरबार में पहुँचेगा, तो वहाँ कोई तेरा पल्ला नहीं पकड़ेगा,
क्योंकि सबकुछ तेरा साफ-ही-साफ होगा।

सांच कहूं तो मारिहैं, झूठे जग पतियाइ।
यह जग काली कूकरी, जो छेड़ै तो खाय ॥२॥

सच-सच कह देता हूँ तो लोग मारने दौड़ेंगे,
दुनिया तो झूठ पर ही विश्वास करती है।
लगता है, दुनिया जैसे काली कुतिया है,
इसे छेड़ दिया, तो यह काट खायगी।

यहु सब झूठी बंदिगी, बरियां पंच निवाज।
सांचै मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज ॥३॥

काजी भाई! तेरी पांच बार की यह नमाज झूठी बन्दगी है,
झूठी पढ़-पढ़कर तुम सत्य का गला घोंट रहे हो,

और इससे दुनिया की और अपनी भी हानि कर रहे हो। [क्यों नहीं पाक दिल से सच्ची बन्दगी करते हो ?]

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जिस हिरदै में सांच है, ता हिरदै हरि आप ॥४॥

सत्य की तुलना में दूसरा कोई तप नहीं, और झूठ के बराबर दूसरा पाप नहीं।
जिसके हृदय में सत्य रम गया, वहाँ हरि का वास तो सदा रहेगा ही।

प्रेम-प्रीति का चोलना, पहिरि कबीरा नाच।
तन-मन तापर वारहूँ, जो कोइ बोलै सांच ॥५॥

प्रेम और प्रीति का ढीला-ढाला कुर्ता पहनकर कबीर मस्ती में नाच रहा है,
और उसपर तन और मन की न्यौछावर कर रहा है,
जो दिल से सदा सच ही बोलता है।

काजी मुल्लां भ्रंमियां, चल्या दुनीं कै साथ।
दिल थैं दीन बिसारिया, करद लई जब हाथ ॥६॥

ये काजी और मुल्ले तभी दीन के रास्ते से भटक गये और दुनियादारों के साथ-साथ चलने लगे,
जब कि इन्होंने जिबह करने के लिए हाथ में छूरी पकड़ ली, दीन के नाम पर।

साइँ सेती चोरियां, चोरां सेती गुझ्झ।
आणैंगा रे जीवणा, मार पड़ैगी तुझ्झ ॥७॥

वाह ! क्या कहने हैं, साईं से तो तू चोरी और दुराव करता है और दोस्ती कर ली है चोरों के साथ !
जब उस दरबार में तुझपर मार पड़ेगी, तभी तू असलियत को समझ सकेगा।

खूब खांड है खीचड़ी, माँहि पड़्याँ टुक लूण।
पेड़ा रोटी खाइ करि, गला कटावे कूण ॥८॥

क्या ही बढ़िया स्वाद है मेरी इस खिचड़ी का !
ज़रा-सा, बस, नमक डाल लिया है।
पेड़े और चुपड़ी रोटियाँ खा-खाकर कौन अपना गला कटाये ?
[पाठान्तर है, 'देख पराई चूपड़ी, जी ललचावे कौन,' मतलब लगाने में कोई अन्तर नहीं पड़ता।]

१२ : : भ्रम-बिधोंसवा का अंग

जेती देखौं आत्मा, तेता सालिगराम ।
साधू प्रतषि देव हैं, नहीं पाथर सूं काम ॥१॥

जितनी ही आत्माओं को देखता हूँ, उतने ही शालिग्राम दीख रहे हैं ।
प्रत्यक्ष देव तो मेरे लिए सच्चा साधु है ।
पाषाण की मूर्ति पूजने से क्या बनेगा मेरा ?

जप तप दीसैं थोथरा, तीरथ ब्रत बेसास ।
सूवै सैंबल सेविया, यौं जग चल्या निरास ॥२॥

कोरा जप और तप मुझे थोथा ही दिखायी देता है,
और इसी तरह तीर्थों और व्रतों पर विश्वास करना भी ।
सुवे ने भ्रम में पड़कर सेमर के फूल को देखा, पर उसमें रस न पाकर निराश हो गया,
वैसी ही गति इस मिथ्या-विश्वासी संसार की है ।

तीरथ तो सब बेलड़ी, सब जग मेल्या छाइ ।
'कबीर' मूल निकंदिया, कौंण हलाहल खाइ ॥३॥

तीर्थ तो यह ऐसी अमरबेल है, जो जगत् रूपी वृक्ष पर बुरी तरह छा गई है ।

कबीर ने इसकी जड़ ही काट दी है, यह देखकर कि कौन विष का पान करे !

मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जाणि ।
दसवां द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछाणि ॥४॥

मेरा मन ही मेरी मथुरा है, और दिल ही मेरी द्वारिका है, और यह काया मेरी काशी है ।
दसवाँ द्वार वह देवालय है, जहाँ आत्म-ज्योति को पहचाना जाता है ।
[दसवें द्वार से तात्पर्य है, योग के अनुसार ब्रह्मरन्ध्र से ।]

'कबीर' दुनिया देहुरै, सीस नवांवण जाइ ।
हिरदा भीतर हरि बसै, तू ताही सौं ल्यौ लाइ ॥५॥

कबीर कहते हैं—
यह नादान दुनिया, भला देखो तो, मन्दिरों में माथा टेकने जाती है,
यह नहीं जानती कि हरि का वास तो हृदय में है,
तब वहीं पर क्यों न लौ लगायी जाय ?

१३ : : साध-असाध का अंग

जेता मीठा बोलणा, तेता साध न जाणि ।
पहली थाह दिखाइ करि, उंडै देसी आणि ॥१॥

उनको वैसा साधु न समझो, जैसा और जितना वे मीठा बोलते हैं ।
पहले तो नदी की थाह बता देते हैं कि कितनी और कहाँ है, पर अन्त में वे गहरे में डुबो देते हैं ।
[सो मीठी-मीठी बातों में न आकर अपने स्वयं के विवेक से काम लिया जाये ।]

उज्जल देखि न धीजिये, बग ज्यूं मांडै ध्यान ।
धौरे बैठि चपेटसी, यूं ले बूड़ै ग्यान ॥२॥

ऊपर-ऊपर की उज्ज्वलता को देखकर न भूल जाओ, उस पर विश्वास न करो ।
उज़्ज्वल पंखों वाला बगुला ध्यान लगाये बैठा है,
कोई भी जीव-जन्तु पास गया, तो उसकी चपेट से छूटने का नहीं ।
[दम्भी का दिया ज्ञान भी मंझधार में डुबो देगा ।]

'कबीर' संगति साध की, कदे न निरफल होइ ।
चंदन होसी बांवना, नींब न कहसी कोइ ॥३॥

कबीर कहते हैं—

साधु की संगति कभी भी व्यर्थ नहीं जाती, उससे सुफल मिलता ही है।

चन्दन का वृक्ष बावना अर्थात् छोटा-सा होता है,
पर उसे कोई नीम नहीं कहता,
यद्यपि वह कहीं अधिक बड़ा होता है।

'कबीर' संगति साध की, बेगि करीजै जाइ।
दुर्मति दूरि गंवाइसी, देसी सुमति बताइ ॥४॥

साधु की संगति जल्दी ही करो, भाई,
नहीं तो समय निकल जायगा।
तुम्हारी दुर्बुद्धि उससे दूर हो जायगी और वह तुम्हें सुबुद्धि का रास्ता पकड़ा देगी।

मथुरा जाउ भावै द्वारिका, भावै जाउ जगनाथ।
साध-संगति हरि-भगति बिन, कछू न आवै हाथ ॥५॥

तुम मथुरा जाओ, चाहे द्वारिका, चाहे जगन्नाथपुरी,
बिना साधु-संगति और हरि-भक्ति के कुछ भी हाथ आने का नहीं।

मेरे संगी दोइ जणा, एक वैष्णौ एक राम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम ॥६॥

मेरे तो ये दो ही संगी-साथी हैं—एक तो वैष्णव, और दूसरा राम ।
राम जहाँ मुक्ति का दाता है, वहाँ वैष्णव नाम-स्मरण कराता है ।
तब और किसी साथी से मुझे क्या लेना-देना ?

'कबीर' बन बन में फिरा, कारणि अपणें राम ।
राम सरीखे जन मिले, तिन सारे सबरे काम ॥७॥

कबीर कहते हैं—
अपने राम को ढूंढ़ते-ढूंढ़ते एक बन में से मैं दूसरे बन में गया,
जब वहाँ मुझे स्वयं राम के सरीखे भक्त मिल गये, तो उन्होंने मेरे सारे काम बना दिये ।
मेरा वन-वन का भटकना तभी सफल हुआ ।

जानि बूझि सांचहि तजै, करैं झूठ सूं नेहु ।
ताकी संगति रामजी, सुपिनें ही जिनि देहु ॥८॥

जो मनुष्य जान-बूझकर सत्य को छोड़ देता है, और असत्य से नाता जोड़ लेता है,
हे राम ! सपने में भी कभी मुझे उसका साथ न देना ।

'कबीर' तास मिलाइ, जास हियाली तू बसै ।
नहितर बेगि उठाइ, नित का गंजन को सहै ॥९॥

कबीर कहते हैं—

मेरे साईं, मुझे तू किसी ऐसे से मिला दे, जिसके हृदय में तू बस रहा हो,
नहीं तो दुनिया से मुझे जल्दी ही उठा ले।
रोज़-रोज़ की यह पीड़ा कौन सहे ?

१४ : : संगति का अंग

हरिजन सेती रूसणा, संसारी सूं हेत ।
ते नर कदे न नीपजैं, ज्यूं कालर का खेत ।।१।।

हरिजन से तो रूठना और संसारी लोगों के साथ प्रेम करना—ऐसों के अन्तर में भक्ति-भावना कभी उपज नहीं सकती, जैसे खारवाले खेत में कोई भी बीज उगता नहीं ।

मूरख संग न कीजिए, लोहा जलि न तिराइ ।
कदली-सीप-भुवंग मुख, एक बूंद तिहँ भाइ ।।२।।

मूर्ख का साथ कभी नहीं करना चाहिए, उससे कुछ भी फलित होने का नहीं ।
लोहे की नाव पर चढ़कर कौन पार जा सकता है ?
वर्षा की बूँद केले पर पड़ी, सीप में पड़ी और सांप के मुख में पड़ी—
परिणाम अलग-अलग हुए—कपूर बन गया, मोती बना और विष बना ।

माखी गुड़ मैं गड़ि रही, पंख रही लपटाइ ।
ताली पीटै सिरि धुनैं, मीठैं बोई माइ ।।३।।

मक्खी बेचारी गुड़ में धंस गई, फंस गई, पंख उसके चेंप से लिपट गये ।

मिठाई के लालच में वह मर गई, हाथ मलती और सिर पीटती हुई।

ऊँचै कुल क्या जनमियां, जे करनी ऊँच न होइ।
सोवरन कलस सुरै भर्‌या, साधू निंद्या सोइ ॥४॥

ऊँचे कुल में जन्म लेने से क्या होता है, यदि करनी ऊँची न हुई?
साधुजन सोने के उस कलश की निन्दा ही करते हैं, जिसमें कि मदिरा भरी हो।

'कबिरा' खाई कोट की, पानी पिवै न कोइ।
जाइ मिलै जब गंग से, तब गंगोदक होइ ॥५॥

कबीर कहते हैं—

क़िले को घेरे हुए खाई का पानी कोई नहीं पीता,
कौन पियेगा वह गंदला पानी?
पर जब वही पानी गंगा में जाकर मिल जाता है,
तब वह गंगोदक बन जाता है, परम पवित्र।

'कबीर' तन पंषी भया, जहाँ मन तहाँ उड़ि जाइ।
जो जैसी संगति करै, सो तैसे फल खाइ ॥६॥

कबीर कहते हैं—

यह तन मानो पक्षी हो गया है, मन इसे चाहे जहाँ उड़ा ले जाता है।

जिसे जैसी भी संगति मिलती है—संग और कुसंग—वह वैसा ही फल भोगता है।

[मतलब यह कि मन ही अच्छी और बुरी संगति में लेजाकर वैसे ही फल देता है।]

काजल केरी कोठड़ी, तैसा यहु संसार।
बलिहारी ता दास की, पैसि र निकसणहार ॥७॥

यह दुनिया तो काजल की कोठरी है, जो भी इसमें पैठा, उसे कुछ-न-कुछ कालिख लग ही जायगी।

धन्य है उस प्रभु-भक्त को,
जो इसमें पैठकर बिना कालिख लगे साफ़ निकल आता है।

१५ : : मन का अंग

'कबीर' मारूं मन कूं, टूक-टूक ह्वै जाइ ।
बिष की क्यारी बोइ करि, लुणत कहा पछिताइ ॥१॥

इस मन को मैं ऐसा मारूँगा कि वह टूक-टूक हो जाय ।
मन की ही करतूत है यह, जो जीवन की क्यारी में विष के बीज मैंने बो दिये,
उन फलों को तब लेना ही होगा, चाहे कितना ही पछताया जाय ।

आसा का ईंधण करूं, मनसा करूं बिभूति ।
जोगी फेरि फिल करूं, यौं बिनना वो सूति ॥२॥

आशा को जला देता हूँ ईंधन की तरह, और उस राख को तन पर रमाकर जोगी बन जाता हूँ ।
फिर जहाँ-तहाँ फेरी लगाता फिरूँगा,
जो सूत इकट्ठा कर लिया है उसे इसी तरह बुनूंगा ।
[मतलब यह कि आशाएं सारी जलाकर खाक कर दूंगा और निस्पृह होकर जीवन का क्रम इसी ताने-बाने पर चलाऊँगा ।]

पाणी ही तै पातला, धुवां ही तै झीण ।
पवनां बेगि उतावला, सो दोसत 'कबीर' कीन्ह ॥३॥

कबीर कहते हैं कि ऐसे के साथ दोस्ती करली है मैंने
जो पानी से भी पतला है और धुएं से भी ज्यादा झीना।
पर वेग और चंचलता उसकी पवन से भी कहीं अधिक हैं।
[पूरी तरह काबू में किया हुआ मन ही ऐसा दोस्त है।]

'कबीर' तुरी पलाणियं, चाबक लीया हाथि ।
दिवस थकां सांईं मिलौं, पीछै पड़िहै राति ।।४।।

कबीर कहते हैं—
ऐसे घोड़े पर जीन कसली है मैंने, और हाथ में ले लिया है चाबुक,
कि सांझ पड़ने से पहले ही अपने स्वामी से जा मिलूं।
बाद में तो रात हो जायगी, और मंजिल तक नहीं पहुँच सकूंगा।

मैमन्ता मन मारि रे, घट ही माहैं घेरि ।
जबहीं चालै पीठि दे, अंकुस दै-दै फेरि ।।५।।

मद-मत्त हाथी को, जो कि मन है, घर में ही घेरकर कुचल दो।
अगर यह पीछे को पैर उठाये, तो अंकुश दे-देकर इसे मोड़ लो।

कागद केरी नाव री, पाणी केरी गंग ।
कहै कबीर कैसे तिरूँ, पंच कुसंगी संग ।।६।।

कबीर कहते हैं—
नाव यह कागज की है, और गंगा में पानी-ही-पानी भरा है।

फिर साथ पाँच कुसंगियों का है,
कैसे पार जा सकूंगा ?

[पाँच कुसंगियों से तात्पर्य है पाँच चंचल इन्द्रियों से ।]

मनह मनोरथ छाँड़ि दे, तेरा किया न होइ ।
पाणी में घीव नीकसै, तो रूखा खाइ न कोइ ॥७॥

अरे मन ! अपने मनोरथों को तू छोड़ दे,
तेरा किया कुछ होने-जाने का नहीं ।
यदि पानी में से ही घी निकलने लगे, तो कौन रूखी रोटी खायगा ?

[मतलब यह कि मन तो पानी की तरह है, और घी से तात्पर्य है आत्म-दर्शन से ।]

१६ : : चितावणी का अंग

'कबीर' नौबत आपणी, दिन दस लेहु बजाइ ।
ए पुर पाटन, ए गली, बहुरि न देखै आइ ।।१।।

कबीर कहते हैं—

अपनी इस नौबत को दस दिन और बजालो तुम ।
फिर यह नगर, यह पट्टन और ये गलियाँ देखने को नहीं मिलेंगी ?
कहाँ मिलेगा ऐसा सुयोग, ऐसा संयोग, जीवन सफल करने का, बिगड़ी बात को बना लेने का ।

जिनके नौबति बाजती, मैंगल बंधते बारि ।
एकै हरि के नाव बिन, गए जनम सब हारि ।।२।।

पहर-पहर पर नौबत बजा करती थी जिनके द्वार पर,
और मस्त हाथी जहाँ बँधे हुए झूमते थे ।
वे अपने जीवन की बाजी हार गये,
इसलिए कि उन्होंने हरि का नाम-स्मरण नहीं किया ।

इक दिन ऐसा होइगा, सब सूं पड़ै बिछोइ ।
राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होइ ।।३।।

एक दिन ऐसा आयगा ही, जब सबसे बिछुड़ जाना होगा ।

तब ये बड़े-बड़े राजा और छत्र-धारी राणा क्यों सचेत नहीं हो जाते ?
कभी-न-कभी अचानक आ जानेवाले उस दिन को वे क्यों याद नहीं कर रहे ?

'कबीर' कहा गरबियौ, काल गहै कर केस ।
ना जाणै कहाँ मारिसी, कै घरि कै परदेस ।।४।।

कबीर कहते हैं—
यह गर्व कैसा, जबकि काल ने तुम्हारी चोटी को पकड़ रखा है ?
कौन जाने वह तुम्हें कहाँ और कब मार देगा !
पता नहीं कि तुम्हारे घर में ही, या कहीं परदेश में ।

बिन रखवाले बाहिरा, चिड़िया खाया खेत ।
आधा-परधा ऊबरै, चेति सकै तो चेति ।।५।।

खेत एकदम खुला पड़ा है, रखवाला कोई भी नहीं ।
चिड़ियों ने बहुत-कुछ उसे चुग लिया है ।
चेत सके तो अब भी चेत जा, जाग जा,
जिससे कि आधा-परधा जो भी रह गया हो, वह बच जाय ।

कहा कियौ हम आइ करि, कहा कहैंगे जाइ ।
इत के भये न उत के, चाले मूल गंवाइ ।।६।।

हमने यहाँ आकर क्या किया ?
और साईं के दरबार में जाकर क्या कहेंगे ?

न तो यहाँ के हुए और न वहाँ के ही—दोनों ही ठौर बिगाड़ बैठे।
मूल भी गवाँकर इस बाज़ार से अब हम विदा ले रहे हैं।

'कबीर' केवल राम की, तू जिनि छाँडै ओट।
घण-अहरनि बिचि लौह ज्यूं, घणी सहै सिर चोट ॥७॥

कबीर कहते हैं, चेतावनी देते हुए—
राम की ओट को तू मत छोड़, केवल यही तो एक ओट है।
इसे छोड़ दिया तो तेरी वही गति होगी, जो लोहे की होती है,
हथौड़े और निहाई के बीच आकर तेरे सिर पर चोट-पर-चोट पड़ेगी।
उन चोटों से यह ओट ही तुझे बचा सकती है।

उजला कपड़ा पहरि करि, पान सुपारी खाँहि।
एकै हरि के नाव बिन, बाँधे जमपुरि जाँहि ॥८॥

बढ़िया उजले कपड़े उन्होंने पहन रखे हैं,
और पान-सुपारी खाकर मुंह लाल कर लिया है अपना।
पर यह साज-सिंगार अन्त में बचा नहीं सकेगा, जबकि यमदूत बाँधकर ले जायंगे।
उस दिन केवल हरि का नाम ही यम-बंधन से छुड़ा सकेगा।

नान्हा कातौ चित्त दे, महँगे मोल बिकाइ।
गाहक राजा राम है, और न नेडा आइ ॥९॥

खूब चित्त लगाकर महीन-से-महीन सूत तू चरखे पर कात,
वह बड़े महँगे मोल बिकेगा।
लेकिन उसका गाहक तो केवल राम है,
कोई दूसरा उसका खरीदार पास फटकने का नहीं।

मैं-मैं बड़ी बलाइ है, सकै तो निकसो भाजि।
कब लग राखौ हे सखी, रुई लपेटी आगि ॥१०॥

यह 'मैं-मैं' बहुत बड़ी बला है।
इससे निकलकर भाग सको तो भाग जाओ।
अरी सखी, रुई में आग को लपेटकर तू कबतक रख सकेगी?
[राग की आग को चतुराई से ढककर भी छिपाया और बुझाया नहीं जा सकता।]

१७ : : भेष का अंग

माला पहिरैं मनमुषी, ताथैं कछू न होइ ।
मन माला कौं फेरता, जग उजियारा सोइ ।।१।।

लोगों ने यह 'मनमुखी' माला धारण कर रखी है,
नहीं समझते कि इससे कोई लाभ होने का नहीं ।
माला मन ही की क्यों नहीं फेरते ये लोग ?
'इधर' से हटाकर मन को 'उधर' मोड़ दें, जिससे सारा जगत् जगमगा उठे ।

[आत्मा का प्रकाश फैल जाय और भर जाय सर्वत्र ।]

'कबीर' माला मन की, और संसारी भेष ।
माला पहर्यां हरि मिलै, तौ अरहट कै गलि देखि ।।२।।

कबीर कहते हैं—

सच्ची माला तो अचंचल मन की ही है,
बाकी तो संसारी भेष है मालाधारियों का ।
यदि माला पहनने से ही हरि से मिलन होता हो, तो रहट को देखो—
हरि से क्या उसकी भेंट हो गई, इतनी बड़ी माला गले में डाल लेने से ?

माला पहर्‌यां कुछ नहीं, भगति न आई हाथ ।
माथौ मूँछ मुँडाइ करि, चल्या जगत के साथ ॥३॥

यदि भक्ति तेरे हाथ न लगी, तो माला पहनने से क्या होना-जाना ?
केवल सिर मुँड़ा लिया और मूछें मुँड़ा लीं—
बाकी व्यवहार तो दुनियादारों के जैसा ही है तेरा ।

साईं सेती सांच चलि, औरां सूं सुध भाइ ।
भावैं लम्बे केस करि, भावैं घुरड़ि मुंडाइ ॥४॥

स्वामी के प्रति तुम सदा सच्चे रहो, और दूसरों के साथ सहज-सीधे भाव से बरतो,
फिर चाहे तुम लम्बे बाल रखो या सिर को पूरा मुँड़ा लो ।

[वह मालिक भेष को नहीं देखता, वह तो सच्चों का गाहक है ।]

केसों कहा बिगाड़िया, जो मुँडै सौ बार ।
मन को काहे न मूंडिये, जामैं बिषय-बिकार ॥५॥

बेचारे इन बालों ने क्या बिगाड़ा तुम्हारा, जो सैकड़ों बार मूँड़ते रहते हो !
अपने मन को मूँड़ो न, उसे साफ़ करलो न,
जिसमें विषयों के विकार-ही-विकार भरे पड़े हैं ।

स्वांग पहरि सोरहा भया, खाया पीया खूंदि ।
जिहि सेरी साधू नीकले, सो तौ मेल्ही मूंदि ॥६॥

वाह ! खूब बनाया यह साधु का स्वांग !
अन्दर तुम्हारे लोभ भरा हुआ है और खाते-पीते हो ठूंस-ठूंस कर ।
जिस गली में से साधु गुज़रता है, उसे तुमने बन्द कर रखा है ।

बैसनों भया तौ क्या भया, बूझा नहीं बबेक ।
छापा तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक ॥७॥

इस तरह वैष्णव बन जाने से क्या होता है; जब कि विवेक को तुमने समझा नहीं !
छापे और तिलक लगाकर तुम स्वयं विषय की आग में जलते रहे, और दूसरों को भी जलाया ।

तन कों जोगी सब करैं, मन कों बिरला कोइ ।
सब सिधि सहजै पाइये, जे मन जोगी होइ ॥८॥

तन के योगी तो सभी बन जाते हैं, ऊपरी भेषधारी योगी ।
मगर मन को योग के रंग में रँगनेवाला बिरला ही कोई होता है ।
यह मन अगर योगी बन जाय, तो सहज ही सारी सिद्धियाँ सुलभ हो जायंगी ।

पष ले बूड़ी पृथमीं, झूठे कुल की लार ।
अलष बिसार्‌यो भेष मैं, बूड़े काली धार ॥९॥

किसी-न-किसी पक्ष को लेकर, वाद में पड़कर और कुल की परम्पराओं को अपनाकर यह दुनिया डूब गई है।
भेष ने 'अलख' को भुला दिया। तब काली धार में तो डूबना ही था।

चतुराई हरि ना मिलै, ए बातां की बात।
एक निसप्रेही निरधार का, गाहक गोपीनाथ ॥१०॥

कितनी ही चतुराई करो, उसके सहारे हरि मिलने का नहीं, चतुराई तो सारी बातों-ही-बातों की है।
गोपीनाथ तो एक उसीका गाहक है, उसीको अपनाता है। जो निस्पृह और निराधार होता है।
[दुनिया की इच्छाओं में फँसे हुए और जहाँ-तहाँ अपना आश्रय खोजनेवाले को दूसरा कौन खरीद सकता है, कौन उसे अंगीकार कर सकता है ?]

१८ : : साध का अंग

निरबैरी निहकामता, साईं सेती नेह।
विषिया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह ॥१॥

कोई पूछ बैठे तो सन्तों के लक्षण ये हैं—
किसीसे भी बैर नहीं, कोई कामना नहीं, एक प्रभु से ही पूरा प्रेम।
और विषय-वासनाओं में निर्लेपता।

संत न छांड़ै संतई, जे कोटिक मिलें असंत।
चंदन भुवंगा बैठिया, तउ सीतलता न तजंत ॥२॥

करोड़ों ही असन्त आजायं, तोभी सन्त अपना सन्तपना नहीं छोड़ता।
चन्दन के वृक्ष पर कितने ही सांप आ बैठें, तोभी वह शीतलता को नहीं छोड़ता।

गांठी दाम न बांधई, नहिं नारी सों नेह।
कह 'कबीर' ता साध को, हम चरनन की खेह ॥३॥

कबीर कहते हैं कि हम ऐसे साधु के पैरों की धूल बन जाना चाहते हैं,
जो गाँठ में एक कौड़ी भी नहीं रखता और नारी से जिसका प्रेम नहीं।

[आशय पर-नारी से है ।]

सिहों के लेहँड़ नहीं, हंसों की नहीं पाँत ।
लालों की नहि बोरियाँ, साध न चलैं जमात ॥४॥

सिंहों के झुण्ड नहीं हुआ करते और न हंसों की कतारें । लाल-रत्न बोरियों में नहीं भरे जाते, और जमात को साथ लेकर साधु नहीं चला करते ।

जाति न पूछौ साध की, पूछ लीजिए ग्यान ।
मोल करौ तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान ॥५॥

क्या पूछते हो कि साधु किस जाति का है ?
पूछना हो तो उससे ज्ञान की बात पूछो ।
तलवार खरीदनी है, तो उसकी धार पर चढ़े पानी को देखो, उसके म्यान को फेंक दो, भले ही वह बहुमूल्य हो ।

'कबीर' हरि का भावता, झीणां पंजर तास ।
रैंणि न आवै नींदड़ी, अंगि न चढ़ई मांस ॥६॥

कबीर कहते हैं—

हरि के प्यारे का शरीर तो देखो—
पंजर ही रह गया है बाकी ।
सारी ही रात उसे नींद नहीं आती, और अंग पर मांस नहीं चढ़ रहा ।

राम बियोगी तन बिकल, ताहि न चीन्हे कोइ ।
तंबोली के पान ज्यूं, दिन-दिन पीला होइ ॥७॥

पूछते हो कि राम का वियोग होता कैसा है ?
विरह में वह व्यथित रहता है, देखकर कोई पहचान नहीं पाता कि वह कौन है ?
तम्बोली के पान की तरह, बिना सींचे, दिन-दिन वह पीला पड़ता जाता है ।

काम मिलावे राम कूं, जे कोई जाणै राखि ।
'कबीर' विचारा क्या कहै, जाकी सुखदेव बोलै साखि ॥८॥

हाँ, राम से काम भी मिला सकता है—
ऐसा काम, जिसे कि नियन्त्रण में रखा जाय ।
यह बात बेचारा कबीर ही नहीं कह रहा है,
शुकदेव मुनि भी साक्षी भर रहे हैं ।
[आशय 'धर्म से अविरुद्ध' काम से है, अर्थात् भोग के प्रति अनासक्ति और उसपर नियन्त्रण ।]

जिहिं हिरदै हरि आइया, सो क्यूं छानां होइ ।
जतन-जतन करि दाबिये, तऊ उजाला सोइ ॥९॥

जिसके अन्तर में हरि आ बसा, उसके प्रेम को कैसे छिपाया जा सकता है ?
दीपक को जतन कर-कर कितना ही छिपाओ, तब भी उसका उजेला तो प्रकट हो ही जायगा ।

[रामकृष्ण परमहंस के शब्दों में चिमनी के अन्दर से फानुस का प्रकाश छिपा नहीं रह सकता।]

फाटै दीदै में फिरौं, नजरि न आवै कोइ।
जिहि घटि मेरा साँईयाँ, सो क्यूं छाना होइ ॥१०॥

कबसे मैं आँखें फाड़-फाड़कर देख रहा हूँ कि ऐसा कोई मिल जाय,
जिसे मेरे साईं का दीदार हुआ हो।
वह किसी भी तरह छिपा नहीं रह जायगा, नजर पर चढ़े तो !

पावकरूपी राम है, घटि-घटि रह्या समाइ।
चित चकमक लागै नहीं, तार्थं धूवाँ ह्वै-ह्वै जाइ ॥११॥

मेरा राम तो आग के सदृश है, जो घट-घट में समा रहा है।
वह प्रकट तभी होगा, जब कि चित्त उसपर केन्द्रित हो जायगा।
चकमक पत्थर की रगड़ बैठ नहीं रही, इससे केवल धुवाँ उठ रहा है।
तो आग अब कैसे प्रकटे ?

'कबीर' खालिक जागिया, और न जागै कोइ।
कै जगै बिषई विष-भर्‌या, कै दास बंदगी होइ ॥१२॥

कबीर कहते हैं—
जाग रहा है, तो मेरा वह खालिक ही,
दुनिया तो गहरी नींद में सो रही है, कोई भी नहीं जाग रहा।

हाँ, ये दो ही जागते हैं—
या तो विषय के जहर में डूबा हुआ कोई, या फिर साईं का बन्दा, जिसकी रात सारी बंदगी करते-करते बीत जाती है।

पुरपाटण सुबस बसा, आनन्द ठांयैं ठांइ।
राम-सनेही बाहिरा, उलजंड़ मेरे भाइ ॥१३॥

मेरी समझ में वे पुर और वे नगर वीरान ही हैं,
जिनमें राम के स्नेही नहीं बस रहे,
यद्यपि उनको बड़े सुन्दर ढंग से बनाया और बसाया गया है
और जगह-जगह जहाँ आनन्द-उत्सव हो रहे हैं।

जिंहि घरि साध न पूजि, हरि की सेवा नांहि।
ते घर मड़हट सारंषे, भूत बसै तिन मांहि ॥१४॥

जिस घर में साधु की पूजा नहीं, और हरि की सेवा नहीं होती,
वह घर तो मरघट है, उसमें भूत-ही-भूत रहते हैं।

हैवर गैवर सघन धन, छत्रपती की नारि।
तास पटंतर ना तुलै, हरिजन की पनिहारि ॥१५॥

हरि-भक्त की पनिहारिन की बराबरी छत्रधारी की रानी भी नहीं कर सकती।
ऐसे राजा की रानी, जो अच्छे-से-अच्छे घोड़ों और हाथियों का स्वामी है,

और जिसका खजाना अपार धन-सम्पदा से भरा पड़ा है।

> क्यूं नृप-नारी नींदिये, क्यूं पनिहारी कौं मान।
> वा मांग संवारै पीव कौं, या नित उठि सुमिरै राम ॥२६॥

रानी को यह नीचा स्थान क्यों दिया गया, और पनिहारिन को इतना ऊंचा स्थान ?
इसलिए कि रानी तो अपने राजा को रिझाने के लिए मांग सँवारती है, सिंगार करती है,
और वह पनिहारिन नित्य उठकर अपने राम का सुमिरन।

> 'कबीर' कुल तौ सो भला, जिहि कुल उपजै दास।
> जिंहि कुल दास न ऊपजै, सो कुल आक-पलास ॥२७॥

कबीर कहते हैं—
कुल तो वही श्रेष्ठ है, जिसमें हरि-भक्त जन्म लेता है।
जिस कुल में हरि-भक्त नहीं जनमता,
वह कुल आक और पलास के समान व्यर्थ है।

१९ : : मधि का अंग

'कबीर' दुबिधा दूरि करि, एक अंग ह्वै लागि ।
यहु सीतल बहु तपति है, दोऊ कहिये आगि ॥१॥

कबीर कहते हैं—

इस दुविधा को तू दूर कर दे—कभी इधर की बात करता है, कभी उधर की ।

एक ही का हो जा ।

यह अत्यन्त शीतल है और वह अत्यन्त तप्त—आग दोनों ही हैं ।

[दोनों ही 'अति' को छोड़कर मध्य का मार्ग तू पकड़ ले ।]

दुखिया मूवा दुख कौं, सुखिया सुख कौं झूरि ।
सदा अनंदी राम के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि ॥२॥

दुखिया भी मर रहा है, और सुखिया भी—

एक तो अति अधिक दुःख के कारण, और दूसरा अति अधिक सुख से ।

किंतु राम के जन सदा ही आनंद में रहते हैं,

क्योंकि उन्होंने सुख और दुःख दोनों को दूर कर दिया है ।

काबा फिर कासी भया, राम भया रे रहीम ।
मोट चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम ॥३॥

काबा तो बन गया है काशी, और मेरा राम ही है रहीम।
पहले जो आटा मोटा था, वह अब मैदा बन गया।
कबीर मौज में बैठा जीम रहा है, स्वाद ले-लेकर।

[साम्प्रदायिकता ने खींचातानी कर-कर मज़ा किरकिरा कर दिया था। 'मध्य' का मार्ग पकड़ लेने से दुविधा सारी दूर हो गयी और जीवन में स्वाद आ गया।]

२० : : बेसास का अंग

रचनहार कूं चीन्हि लै, खैबे कूं कहा रोइ ।
दिल मंदिर मैं पैसि करि, ताणि पछेवड़ा सोइ ॥१॥

क्या रोता फिरता है खाने के लिए ?
अपने सरजनहार को पहचान ले न !
दिल के मंदिर में पैठकर उसके ध्यान में चादर तानकर तू बेफिक्र सो जा ।

भूखा भूखा क्या करैं, कहा सुनावै लोग ।
भांडा घड़ि जिनि मुख दिया, सोई पूरण जोग ॥२॥

अरे, द्वार-द्वार पर क्या चिल्लाता फिरता है कि 'मैं भूखा हूँ, मैं भूखा हूँ ?'
भांडा गढ़कर जिसने उसका मुँह बनाया, वही उसे भरेगा, रीता नहीं रखेगा ।

'कबीर' का तू चिंतवै, का तेरा च्यंत्या होइ ।
अणच्यंत्या हरिजी करैं, जो तोहि च्यंत न होइ ॥३॥

कबीर कहते हैं—
क्यों व्यर्थ चिंता कर रहा है ? चिंता करने से होगा क्या ?
जिस बात को तूने कभी सोचा नहीं, जिसकी चिंता नहीं की, उस अ-चिंतित को भी तेरा साईं पूरा कर देगा ।

संत न बांधै गाठड़ी, पेट समाता-लेइ ।
साईं सूँ सनमुख रहै, जहां मांगै तहां देइ ॥४॥

संचय करके संत कभी गठरी नहीं बाँधता ।
उतना ही लेता है, जितने की दरकार पेट को हो ।
साईं ! तू तो सामने खड़ा है, जो भी जहाँ माँगूंगा, वह तू वहीं दे देगा ।

मानि महातम प्रेम-रस, गरवातण गुण नेह ।
ए सबहीं अहला गया, जबहीं कह्या कुछ देह ॥५॥

जबभी किसीने किसीसे कहा कि 'कुछ दे दो,'
समझलो कि तब न तो उसका सम्मान रहा, न वड़ाई, न प्रेम-रस,
और न गौरव, और न कोई गुण और न स्नेह ही ।

मांगण मरण समान है, बिरला बंचै कोइ ।
कहै 'कबीर' रघुनाथ सूं, मति रे मंगावै मोहि ॥६॥

कबीर रघुनाथजी से प्रार्थना करता है कि,
'मुझे किसीसे कभी कुछ माँगना न पड़े ।'
क्योंकि माँगना मरण के समान है, बिरला ही कोई इससे वचा है ।

'कबीर' सब जग हंडिया, मांदल कंधि चढ़ाइ ।
हरि बिन अपना कोउ नहीं, देखे ठोकि बजाइ ॥७॥

कबीर कहते हैं—

सारे संसार में एक मन्दिर से दूसरे मन्दिर का चक्कर मैं काटता फिरा,

बहुत भटका कंधे पर कांवड़ रखकर पूजा की सामग्री के साथ।

सारे देवी-देवताओं को देख लिया, ठोक-बजाकर परख लिया,

पर हरि को छोड़कर ऐसा कोई नहीं मिला, जिसे मैं अपना कह सकूं।

२१ : : सूरातन का अंग

गगन दमामा बाजिया, पड्या निसानैं घाव ।
खेत बुहार्या सूरिमैं, मुझ मरणे का चाव ॥१॥

गगन में युद्ध के नगाड़े बज उठे, और निशान पर चोट पड़ने लगी ।
शूरवीर ने रणक्षेत्र को झाड़-बुहारकर तैयार कर दिया, तब कहता है कि 'अब मुझे कट-मरने का उत्साह चढ़ रहा है ।'

'कबीर' सोई सूरिमा, मन सूं मांडै झूझ ।
पंच पयादा पाड़ि ले, दूरि करै सब दूज ॥२॥

कबीर कहते हैं—
सच्चा सूरमा वह है, जो अपने वैरी मन से युद्ध ठान लेता है, पाँचों पयादों को जो मार भगाता है, और द्वैत को दूर कर देता है।
[पाँच पयादे, अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह और मत्सर । द्वैत अर्थात् जीव और ब्रह्म के बीच भेद-भावना ।]

'कबीर' संसा कोउ नहीं, हरि सूं लाग्या हेत ।
काम क्रोध सूं झूझणा, चौडै मांड्या खेत ॥३॥

कबीर कहते हैं—

मेरे मन में कुछ भी संशय नहीं रहा, और हरि से लगन जुड़ गई।

इसीलिए चौड़े में आकर काम और क्रोध से जूझ रहा हूँ रण-क्षेत्र में।

सूरा तबही परषिये, लड़ै धणी के हेत।
पुरिजा-पुरिजा ह्वै पड़ै, तऊ न छांड़ै खेत ॥४॥

शूरवीर की तभी सच्ची परख होती है, जब वह अपने स्वामी के लिए जूझता है।

पुर्जा-पुर्जा कट जाने पर भी वह युद्ध के क्षेत्र को नहीं छोड़ता।

अब तौ झूझ्या हीं बणै, मुड़ि चाल्यां घर दूर।
सिर साहिब कौं सौंपतां, सोच न कीजै सूर ॥५॥

अब तो जूझते ही बनेगा, पीछे पैर क्या रखना ?

अगर यहाँ से मुड़ोगे तो घर तो बहुत दूर रह गया है।

साईं को सिर सौंपते हुए सूरमा कभी सोचता नहीं, कभी हिचकता नहीं।

जिस मरनैं थैं जग डरै, सो मेरे आनन्द।
कब मरिहूं, कब देखिहूं पूरन परमानंद ॥६॥

जिस मरण से दुनिया डरती है, उससे मुझे तो आनन्द होता है,

कब मरूँगा और कब देखूँगा मैं अपने पूर्ण सच्चिदानन्द को !

काम पड्यां हीं जाणिये, किस मुख परि है नूर ॥७॥

बड़ी-बड़ी डींगें कायर ही हाँका करते हैं, शूरवीर कभी बहकते नहीं ।
यह तो काम आने पर ही जाना जा सकता है कि शूरवीरता का नूर किस चेहरे पर प्रगट होता है ।

'कबीर' यह घर पेम का, खाला का घर नाँहि ।
सीस उतारै हाथि धरि, सो पैसे घर माँहि ॥८॥

कबीर कहते हैं—

यह तो प्रेम का घर है, किसी खाला का नहीं,
वही इसके अन्दर पैर रख सकता है, जो अपना सिर उतारकर हाथ पर रखले ।

[सीस अर्थात् अहंकार । पाठान्तर है 'भुइं धरै' । यह पाठ कुछ अधिक सार्थक जचता है । सिर को उतारकर ज़मीन पर रख देना, यह हाथ पर रख देने से कहीं अधिक शूरवीरता और निरहंकारिता को व्यक्त करता है ।]

'कबीर' निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध ।
सीस उतारि पग तलि धरै, तब निकट प्रेम का स्वाद ॥९॥

कबीर कहते हैं—

अपना खुद का घर तो इस जीवात्मा का प्रेम ही है।
मगर वहाँ तक पहुँचने का रास्ता बड़ा विकट है,
और लम्बा इतना कि उसका कहीं छोर ही नहीं मिल रहा।
प्रेम-रस का स्वाद तभी सुगम हो सकता है, जब कि अपने सिर को उतारकर उसे पैरों के नीचे रख दिया जाय।

प्रेम न खेतौं नीपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ ॥१०॥

अरे भाई! प्रेम खेतों में नहीं उपजता, और न हाट-बाजार में बिका करता है।
वह महँगा है और सस्ता भी—
यों कि राजा हो या प्रजा, कोई भी उसे सिर देकर खरीद ले जा सकता है।

'कबीर' घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार।
ग्यान खड़ग गहि काल सिरि, भली मचाई मार ॥११॥

कबीर कहते है—

क्या ही मार-धाड़ मचा दी है इस चेतन शूरवीर ने।
सवार हो गया है प्रेम के घोड़े पर।
तलवार ज्ञान की ले ली है, और काल-जैसे शत्रु के सिर पर वह चोट-पर-चोट कर रहा है।

जेते तारे रैंणि के, तेतै बैरी मुझ्झ ।
घड़ सूली सिर कंगुरैं, तऊ न बिसारौं तुझ्झ ॥१२॥

मेरे अगर उतने भी शत्रु हो जायं, जितने कि रात में तारे दीखते हैं,
तब भी मेरा घड़ सूली पर होगा और सिर रखा होगा गढ़ के कंगूरे पर,
फिरभी मैं तुझे भूलने का नहीं ।

सिरसाटैं हरि सेविये, छांड़ि जीव की बाणि ।
जे सिर दीया हरि मिलै, तब लगि हाणि न जाणि ॥१३॥

सिर सौंपकर ही हरि की सेवा करनी चाहिए ।
जीव के स्वभाव को बीच में नहीं आना चाहिए ।
सिर देने पर यदि हरि से मिलन होता है, तो यह न समझा जाय कि वह कोई घाटे का सौदा है ।

'कबीर' हरि सबकूं भजै, हरि कूं भजै न कोइ ।
जबलग आस सरीर की, तबलग दास न होइ ॥१४॥

कबीर कहते हैं—

हरि तो सबका ध्यान रखता है, सबका स्मरण करता है,
पर उसका ध्यान-स्मरण कोई नहीं करता ।
प्रभु का भक्त तबतक कोई हो नहीं सकता, जबतक देह के प्रति आशा और आसक्ति है ।

२२ : : जीवन-मृतक का अंग

'कबीर' मन मृतक भया, दुर्बल भया सरीर ।
तब पैंडे लागा हरि फिरै, कहत कबीर, कबीर ।।१।।

कबीर कहते हैं—
मेरा मन जब मर गया और शरीर सूखकर कांटा हो गया, तब,
हरि मेरे पीछे लगे फिरने मेरा नाम पुकार-पुकारकर—
'अय कबीर! अय कबीर !'—उलटे वह मेरा जप करने लगे।

जीवन थैं मरिबो भलौ, जो मरि जानैं कोइ ।
मरनैं पहली जे मरै, तो कलि अजरावर होइ ।।२।।

इस जीने से तो मरना कहीं अच्छा ; मगर मरने-मरने में अन्तर है।
अगर कोई मरना जानता हो, जीते-जीते ही मर जाय।
मरने से पहले ही जो मर गया,
वह दूसरे ही क्षण अजर और अमर हो गया।
[जिसने अपनी वासनाओं को मार दिया, वह शरीर रहते हुए भी मृतक अर्थात् मुक्त है।]

आपा मेट्याँ हरि मिलै, हरि मेट्या सब जाइ ।
अकथ कहाणी प्रेम की, कह्यां न कोउ पत्याइ ।।३।।

अहंकार को मिटा देने से ही हरि से भेंट होती है,
और हरि को मिटा दिया, भुला दिया, तो हानि-ही-हानि है।
प्रेम की कहानी अकथनीय है।
यदि इसे कहा जाय तो कौन विश्वास करेगा ?

'कबीर' चेरा संत का, दासनि का परदास।
कबीर ऐसें होइ रह्या, ज्यूं पाऊं तलि घास ॥४॥

कबीर सन्तों का दास है, उनके दासों का भी दास है।
वह ऐसे रह रहा है, जैसे पैरों के नीचे घास रहती है।

रोड़ा ह्वै रहो बाट का, तजि पाषंड अभिमान।
ऐसा जे जन ह्वै रहै, ताहि मिलै भगवान ॥५॥

पाखण्ड और अभिमान को छोड़कर तू रास्ते पर का कंकड़ बन जा।
ऐसी रहनी से जो बन्दा रहता है, उसे ही मेरा मालिक मिलता है।

२३ : : समर्थाई का अंग

जिसहि न कोई तिसहि तू, जिस तू तिस सब कोइ ।
दरिगह तेरी सांईयां, ना मरूम कोइ होइ ॥१॥

जिसका कहीं भी कोई सहारा नहीं, उसका एक तू ही सहारा है ।
जिसका तू हो गया, उससे सभी नाता जोड़ लेते हैं ।
साईं ! तेरी दरगाह से, जो भी वहाँ पहुँचा, वह महरूम नहीं हुआ,
सभी को वहाँ आश्रय मिला ।

सात समंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ ।
धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुण लिख्या न जाइ ॥२॥

सातों समंदरों की स्याही बना लूँ और सारे ही वृक्षों की लेखनी,
और कागज का काम लूँ सारी धरती से,
तब भी हरि के अनन्त गुणों को लिखा नहीं जा सकेगा ।

अबरन कौं का बरनिये, मोपै लख्या न जाइ ।
अपना बाना वाहिया, कहि कहि थाके माइ ॥३॥

उसका क्या वर्णन किया जाय, जो कि वर्णन से बाहर है ?
मैं उसे कैसे देखूं ? वह आँख ही नहीं देखने की ।

सबने अपना-अपना ही बाना पहनाया उसे,
और कह्-कहकर थक गया उनका अन्तर ।

झल बावैं झल दाहिनैं, झलहि माँहि व्यौहार ।
आगैं पीछैं झलमई, राखैं सिरजनहार ॥४॥

झाल (ज्वाला) बाईं ओर जल रही है, और दाहिनी ओर भी,
लपटों ने घेर लिया है दुनियाँ के सारे ही व्यवहार को ।
जहाँतक नजर जाती है, जलती और उठती हुई लपटें ही दिखाई देती हैं ।
इस ज्वाला में से एक मेरा सिरजनहार ही निकालकर बचा सकता है ।

साईं मेरा बाणियां, सहजि करै ब्यौपार ।
बिन डांडी बिन पालड़ें, तोलै सब संसार ॥५॥

ऐसा बनिया है मेरा स्वामी, जिसका व्यापार सहज ही चल रहा है ।
उसकी तराजू में न तो डांडी है और न पलड़े,
फिरभी वह सारे संसार को तौल रहा है, सबको न्याय दे रहा है ।

साईं सूं सब होत है, बंदै थैं कुछ नाँहिं ।
राई थैं परबत करै, परबत राई माँहि ॥६॥

स्वामी ही मेरा समर्थ है, वह सब कुछ-कर सकता है;

उसके इस बन्दे से कुछ भी नहीं होने का।
वह राई से पर्वत कर देता है और उसके इशारे से पर्वत भी राई में समा जाता है।

२४ : : उपदेश का अंग

बैरागी बिरकत भला, गिरही चित्त उदार ।
दुहुं चूका रीता पड़ैं, वाकूं वार न पार ॥१॥

बैरागी वही अच्छा, जिसमें सच्ची विरक्ति हो,
और गृहस्थ वह अच्छा, जिसका हृदय उदार हो ।
यदि वैरागी के मन में विरक्ति नहीं, और गृहस्थ के मन में उदारता नहीं,
तो दोनों का ऐसा पतन होगा कि जिसकी हद नहीं ।

'कबीर' हरि के नाव सूं, प्रीति रहै इकतार ।
तौ मुख तैं मोती झड़ैं, हीरे अन्त न पार ॥२॥

कबीर कहते हैं—
यदि हरिनाम पर अविरल प्रीति बनी रहे, तो
उसके मुख से मोती-ही-मोती झड़ेंगे, और इतने हीरे कि जिनकी गिनती नहीं ।

[हरि-भक्त का व्यवहार-बर्ताव सबके प्रति मधुर ही होता है—मन मधुर, वचन मधुर और कर्म मधुर ।]

ऐसी बाणी बोलिये, मन का आपा खोइ ।
अपना तन सीतल करै, औरन को सुख होइ ॥३॥

अपना अहंकार छोड़कर ऐसी बाणी बोलनी चाहिए कि,
जिससे बोलनेवाला स्वयं शीतलता और शान्ति का अनुभव करे, और सुननेवालों को भी सुख मिले ।

कोइ एक राखै सावधां, चेतनि पहरै जागि ।
बस्तर बासन सूं खिसै, चोर न सकई लागि ।।४।।

पहर-पहर पर जागता हुआ जो सचेत रहता है, उसके वस्त्र और बर्तन कैसे कोई ले जा सकता है ?
चोर तो दूर ही रहेंगे, उसके पीछे नहीं लगेंगे ।

जग में बैरी कोइ नहीं, जो मन सीतल होइ ।
या आपा को डारिदे, दया करै सब कोइ ।।५।।

हमारे मन में यदि शीतलता है, क्रोध नहीं है और क्षमा है, तो संसार में हमसे किसीका बैर हो नहीं सकता ।
अथवा अहंकार को निकाल बाहर करदें, तो हम पर सब कृपा ही करेंगे ।

आवत गारी एक है, उलटत होइ अनेक ।
कह 'कबीर' नहिं उलटिए, वही एक की एक ।।६।।

हमें कोई एक गाली दे और हम उलटकर उसे गालियाँ दें, तो
वे गालियाँ अनेक हो जायेंगी ।
कबीर कहते हैं कि यदि गाली को पलटा न जाय, गाली

का जवाब गाली से न दिया जाय,
तो वह गाली एक ही रहेगी।

बोलत ही पहिचानिए, साहु चोर को घाट।
अन्तर की करनी सबै, निकसै मुख की बाट ॥७॥

कौन तो साह है, और कौन चोर—यह उसके बोलने से ही पहचाना जा सकता है।
अन्तर में अच्छा या बुरा जो भी भरा हुआ है, वह मुंह के रास्ते बाहर निकल आता है।

२५ : : विविध

पाइ पदारथ पेलि करि, कंकर लीया हाथि ।
जोड़ी बिछटी हंस की, पड्या बगां के साथि ॥१॥

अनमोल पदार्थं जो मिल गया था, उसे तो छोड़ दिया और
कंकड़ हाथ में ले लिया ।
हंसों के साथ से बिछुड़ गया और बगुलों के साथ हो लिया ।
[तात्पर्य यह कि आखिरी मंजिल तक पहुँचते-पहुँचते साधक
यात्रियों का साथ छूट जाने और सिद्धियों के फेर में पड़
जाने से यह जीव फिर दुनियाँदारी की तरफ़ लौट आया ।]

हरि हीरा, जन जौहरी, ले ले मांडी हाटि ।
जब र मिलैगा पारिषी, तब हरि हीरां की साटि ॥२॥

हरि ही हीरा है, और जौहरी है हरि का भक्त
हीरे को हाट-बाजार में बेच देने के लिए उसने दूकान लगा
रखी है,
वही और तभी इसे कोई इसे खरीद सकेगा, जबकि सच्चे
पारखी अर्थात् सद्गुरु से भेंट हो जायगी ।

बारी बारी आपणीं, चले पियारे म्यंत ।
तेरी बारी रे जिया, नेड़ी आवै निंत ॥३॥

अपने प्यारे संगी-साथी और मित्र बारी-बारी से विदा हो रहे हैं,
अब, मेरे जीव, तेरी भी बारी रोज-रोज नजदीक आती जा रही है ।

जो ऊग्या सो आंथवै, फूल्या सो कुमिलाइ ।
जो चिणियां सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ ॥४॥

जिसका उदय हुआ, उसका अस्त होगा ही; जो फूल खिल उठा, वह कुम्हलायगा ही;
जो मकान चिना गया, वह कभी-न-कभी तो गिरेगा ही;
और, जो भी दुनियाँ में आया, उसे एक न एक दिन कूच करना ही है ।

गोव्यंद के गुण बहुत हैं, लिखे जु हिरदै माँहि ।
डरता पाणी ना पीऊँ, मति वै धोये जाँहि ॥५॥

कितने सारे गोविन्द के गुण मेरे हृदय में लिखे हुए हैं, कोई गिनती नहीं उनकी ।
पानी मैं डरते-डरते पीता हूँ कि कहीं वे गुण धुल न जायं ।

निंदक नेड़ा राखिये, आंगणि कुटी बंधाइ ।
बिन साबण पाणी बिना, निरमल करै सुभाइ ॥६॥

अपने निन्दक को अपने पास ही रखना चाहिए,
आंगन में उसके लिए कुटिया भी बना देनी चाहिए ।

क्योंकि वह सहज ही बिना साबुन और बिना पानी के धो-धोकर निर्मल बना देता है।

न्यंदक दूर न कीजिये, दीजै आदर मान।
निरमल तन मन सब करै, बकि बकि आनहि आन ॥७॥

अपने निन्दक को कभी दूर न किया जाय, आँखों में ही उसे बसा लिया जाय।
उसे मान-सम्मान दे दिया जायं।
तन और मन को, क्योंकि वह निर्मल कर देता है।
निन्दा कर-कर अवसर देता है हमें अपने आपको देखने-परखने का।

'कबीर' आप ठगाइएं और न ठगिये कोइ।
आप ठग्यां सुख ऊपजै, और ठग्यां दुख होइ ॥८॥

कबीर कहते हैं—

खुद तुम भले ही ठगाये जाओ, पर दूसरों को नहीं ठगना चाहिए।
खुद के ठगे जाने से आनन्द होता है, जब कि दूसरों को ठगने से दुःख।

'कबीर' घास न नींदिए, जो पाऊँ तलि होइ।
उड़ि पड़ै जब आँखि मैं, खरी दुहेली होइ ॥९॥

कबीर कहते हैं—

पैरों तले पड़ी हुई घास का भी अनादर नहीं करना चाहिए।
एक छोटा-सा तिनका भी उसकी आँख में यदि पड़ गया, तो बड़ी मुश्किल हो जायगी।

करता केरे बहुत गुण, औगुण कोई नाँहि।
जो दिल खोजौं आपणौं, तौ सब औगुण मुझ माँहि ॥१०॥

सिरजनहार में गुण-ही-गुण हैं, अवगुण एकभी नहीं।
अवगुण ही देखने हैं, तो हम अपने दिल को ही खोजें।

खूंदन तौ धरती सहै, बाढ़ सहै बनराइ।
कुसबद तौ हरिजन सहै, दूजे सह्या न जाइ ॥११॥

कटु वचन तो हरिजन ही सहते हैं, दूसरों से वे सहन नहीं हो सकते।
धरती को कितना ही खोदो-खादो, वह सब सहन कर लेती है।
और, नदी-तीर के वृक्ष बाढ़ को सह लेते हैं।

सीतलता तब जाणियें, समिता रहै समाइ।
पष छाँड़ै निरपष रहै, सबद न देष्या जाइ ॥१२॥

हमारे अन्दर शीतलता का संचार हो गया है, यह समता आ जाने पर ही जाना जा सकता है।
पक्ष-अपक्ष छोड़कर जबकि हम निष्पक्ष हो जायं।

और कटुवचन जब अपना कुछ भी प्रभाव न डाल सकें।

'कबीर' सिरजनहार बिन, मेरा हितू न कोइ।
गुण औगुण बिहड़ै नहीं, स्वारथ बंधी लोइ ॥१३॥

कबीर कहते हैं,—
मेरा और कोई हितू नहीं सिवा मेरे एक सिरजनहार के।
मुझ में गुण हो या अवगुण, वह मेरा कभी त्याग नहीं करता।
ऐसा तो दुनियादार ही करते हैं स्वार्थ में बँधे होने के कारण।

साईं एता दीजिए, जामें कुटुंब, समाइ।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाइ ॥१४॥

ऐ मेरे मालिक ! तू मुझे इतना ही दे,
कि जिससे एक हद के भीतर मेरे कुटुम्ब की जरूरतें पूरी हो जायं।
मैं भी भूखा न रहूँ, और जब कोई भला आदमी द्वार पर आ जाय, तो वह भूखा ही वापस न चला जाय।
['एता' यह शब्द एक उचित सीमा को बाँधता है, संकेत करता है संयम की ओर। कुटुंब का तात्पर्य है सज्जन-समुदाय, न कि मात्र अपना ही स्थापित परिवार।]

नीर पियावत क्या फिरै, सायर घर-घर बारि।
जो त्रिषावन्त होइगा, सो पीवेगा झखमारि ॥१५॥

क्या पानी पिलाता फिरता है घर-घर जाकर ?
अन्तर्मुख होकर देखा तो घर-घर में, घट-घट में, सागर भरा लहरा रहा है।
सचमुच जो प्यासा होगा,
वह झख मारकर अपनी प्यास बुझा लेगा।

[आत्मानन्द का सागर सभी के अन्दर भरा पड़ा है। 'तृषा-वंत' से तात्पर्य है सच्चे तत्त्व-जिज्ञासु से।]

हीरा तहाँ न खोलिये, जहँ खोटी है हाटि।
कसकरि बाँधो गाठरी, उठि करि चालौ बाटि ॥१६॥

जहाँ खोटा बाज़ार लगा हो, ईमान-धरम की जहाँ पूछ न हो,
वहाँ अपना हीरा खोलकर मत दिखाओ।
पोटली में कसकर उसे बन्द करलो और अपना रास्ता पकड़ो।

[हीरा से मतलब है आत्मज्ञान से। 'खोटी हाट' से मतलब है अनधिकारी लोगों से, जिनके अन्दर जिज्ञासा न हो।]

हीरा परा बजार में, रहा छार लपिटाइ।
ब तक मूरख चलि गये, पारखि लिया उठाइ ॥१७॥

हीरा योंही बाज़ार में पड़ा हुआ था—देखा और अन-देखा भी,
धूल मिट्टी से लिपटा हुआ।
जितने भी अपारखी वहाँ से गुज़रे, वे यों ही चले गये।
लेकिन जब सच्चा पारखी वहाँ पहुँचा तो उसने बड़े प्रेम से

उसे उठाकर पठिया लिया।

सब काहू का लीजिए, सांचा सबद निहार।
पच्छपात ना कीजिए, कहै 'कबीर' बिचार ॥१८॥

कबीर खूब विचारपूर्वक इस निर्णय पर पहुँचा है कि जहाँ भी, जिसके पास भी सच्ची बात मिले,
उसे गांठ में बाँध लिया जाय पक्ष और अपक्ष को छोड़कर।

क्या मुख लै बिनती करौं, लाज आवत है मोंहि।
तुम देखत औगुन करौं, कैसे भावों तोंहि ॥१६॥

सामने खड़ा हूँ तेरे, और चाहता हूँ कि विनती करूँ।
पर करूँ तो क्या मुँह लेकर, शर्म आती है मुझे।
तेरे सामने ही भूल-पर-भूल कर रहा हूँ और पाप कमा रहा हूं।
तब मैं कैसे, मेरे स्वामी, तुझे पंसन्द आऊँगा ?

सुरति करौ मेरे साइयां, हम हैं भौजल मांहि।
आपे ही बहि जाहिंगें, जौ नहिं पकरौ बांहि ॥२०॥

मेरे साईं ! हम पर ध्यान दो, हमें भुला न दो।
भवसागर में हम डूब रहे हैं।
तुमने यदि हाथ न पकड़ा तो बह जायंगे।
अपने खुद के उबारे तो हम उबर नहीं सकेंगे।

'मंडल' का

धर्म-अध्यात्म साहित्य

भागवत धर्म, खण्ड १
भागवत धर्म, खण्ड २
गीता-बोध
भारतीय दर्शन-सार
जैनधर्म का प्राण
आत्म-रहस्य
बुद्ध-वाणी
बोधिवृक्ष की छाया में
भगवान हमारा मित्र
श्रीअरविंद का जीवन-दर्शन
गोस्वामी तुलसीदास के सुबोध दोहे
वृन्द कवि के सुबोध दोहे
नीति की बातें
हिन्दू धर्म
कबीरसाहब की सुबोध साखियां

